डा० अमरनाथ झा का माननीय श्री पुरुषोत्तम दास टंडन के साथ संयुक्त-प्रांतीय साहित्य-सम्मेलन के दसवें अधिवेशन, शिकोहाबाद, में लिया गया चित्र

डा० अमरनाथ झा

संयुक्त-प्रातीय साहित्य सम्मेलन के दसवें अधिवेशन के सभापति ।

नारायण इन्टर कालेज, शिकोहाबाद, में पधारते

समय लिया गया चित्र

किताब महल निबन्ध माला—१

४०५

निबध, व्याख्यान, आलोचना

विचार धारा

लेखक

अमरनाथ झा

•

प्रकाशक

किताब महल • इलाहाबाद

१९४८

दो शब्द

इस पुस्तक में पिछले बीस पच्चीस वर्ष के लेखों और भाषणों का संग्रह है। मेरे कुछ नवयुवक मित्रों के आग्रह से यह प्रकाशित हो रहा है। उनमें श्री अमरनारायण अग्रवाल ने विशेष परिश्रम से इनका संकलन किया है। इस प्रकार के संग्रह में पुनरुक्तियाँ अनिवार्य हैं। आशा है इनको पाठक क्षमा करेंगे।

काशी
१७-७-४८

अमरनाथ झा

तालिका

साहित्य और शिक्षा

हिंदी भाषा और साहित्य

हिंदी कविता

उर्दू कविता

अन्य

•

भारतीय साहित्य के सौ वर्ष[1]

यदि सन् १८३७ में, किसी भारतवासी से यह प्रश्न किया जाता कि भारतीय इतिहास में वे प्रमुख लेखक कौन हैं जिन की कृतियाँ पढ़ी जाने के योग्य हैं तो उत्तर में निश्चय ही प्रसिद्ध संस्कृत साहित्यिकों की ओर संकेत किया जाता। उस समय भी पढ़ी-लिखी जनता का अधिकांश संस्कृत का अध्ययन करता था; जिन लोगों का संबंध शासन से कर्मचारी के रूप में था, वे फ़ारसी भी पढ़ते थे। परंतु उस समय सूरदास या तुलसीदास, विद्यापति या चंडीदास, वली या मीर के नाम किसी के मुँह पर न आते। संस्कृत इस समय भी अध्ययन का मुख्य विषय था। जनता की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति संस्कृत दर्शन, संस्कृत नाटकों, महाकाव्यों और गीतकाव्यों से हो जाती थी। नक्षत्र-विद्या, ज्योतिष और गणित का ज्ञान संस्कृत द्वारा सुलभ था। इसी प्रकार विधान, कर्मकांड और धर्म का ज्ञान भी। विद्वान् लोग वार्तालाप तथा शिक्षण के लिए संस्कृत के माध्यम का ही उपयोग करते थे। देश के विभिन्न भागों का आपस में पत्र-व्यवहार संस्कृत द्वारा ही होता था। यह बात नहीं कि आधुनिक भाषाओं में साहित्यिक कार्यशीलता ही न रही हो; परंतु यह भाषाएँ गंभीर अध्ययन अथवा विशेष अनुशीलन की दृष्टि से इतनी सम्मानित नहीं थीं।

आज, यदि विशिष्ट विद्वानों की चर्चा छोड़ दी जाय, तो यह देखा जायगा कि संस्कृत तथा फ़ारसी का स्थान प्रायः संपूर्णतया आधुनिक भाषाओं ने ले लिया है। अभी कुछ ही समय पूर्व तक हमारे विश्वविद्या-

---

[1] "हिन्दुस्तानी" (प्रयाग) में प्रकाशित एक लेख।

लयों में, आर्ट्स विभागों में, प्राचीन भाषाओं के किंचित् अनिवार्य अध्ययन पर ज़ोर दिया जाता था। परंतु उपयोगितावादी बर्बरता की शक्तियों ने इसे न केवल अनावश्यक बना दिया है, वरन् परिस्थिति यह है कि प्राचीन भाषाओं का ज्ञान एक प्रकार से बाधक समझा जाता है, और उन के अध्ययन के विषय में निरुत्साह दिलाया जाता है। इस शोच्य स्थिति का श्रेय अथवा अश्रेय दो बातों पर है—एक तो विज्ञान-संबंधी ज्ञान की अद्भुत शक्ति में विश्वास पर, दूसरे इस पर कि प्रत्येक उच्च शिक्षा-संबंधी आयोजना में देशीय आधुनिक भाषाओं को प्रमुख आसन दिलाने का प्रयत्न होने लगा है।

सौ वर्ष पूर्व यद्यपि हिंदी, उर्दू और बँगला भाषाएँ बहु-संख्यक जनता द्वारा बोली और लिखी जाती थीं, फिर भी उन की संस्कृत अथवा फ़ारसी से कोई प्रतिद्वंद्विता न थी। आधुनिक भाषाओं में कविता अधिकांश अशिक्षित साधारण वर्ग के नैतिक उत्सर्ग के तात्पर्य से लिखी जाती थी; और प्राचीन कथाएँ, धार्मिक शिक्षाएँ, भक्ति-संबंधी गीत—यही बहुधा इस प्रकार के साहित्य के रूप तथा विषय थे। ऐसे ही कहीं कोई अर्द्ध-शिक्षित व्यक्ति किसी अकाल अथवा युद्ध का वर्णन टूटे-फूटे पद्य में कर दे तो दूसरी बात है, अन्यथा आधुनिक भाषाएँ गौण स्थान रखती थीं और उन का विशेष मान न था।

भारतवर्ष की आधुनिक भाषाओं के साहित्य की अद्भुत उन्नति का श्रेय अंग्रेज़ी के अध्ययन, धार्मिक सुधार-संबंधी आंदोलनों, जातीयता की भावना की वृद्धि, और विकास पाती हुई राजनैतिक भावना को प्राप्त है। गेटे के समय में जर्मनी में साहित्यिक बुद्धि का जो प्रचुर विकास और प्रस्फुटन हुआ था, उसे छोड़ कर साहित्य के इतिहास में, मेरी समझ में कोई दूसरा काल नहीं हुआ है जिस की तुलना उस अद्भुत उन्नति से की जा सके जो कि हमारी आधुनिक भाषाओं ने इस थोड़े समय में की है। भाषा गद्य मुख्यतया इसी युग की उत्पत्ति है। इसी युग में भाषा उपन्यासों का

आरंभ होता है; गल्प, निबंध, आलोचनाएँ, इतिहास तथा साहित्य के अन्य अंग इसी युग से सन्नद्ध हैं। भाषा की कविता—विशेष कर उस का वह अंश जो इस पीढ़ी में प्रशंसित है—वह भी इसी युग में रची गई है।

बंकिम चटर्जी, रमेश दत्त, रवींद्रनाथ ठाकुर, शरत् चटर्जी के उपन्यास; रवींद्रनाथ और नरेश सेनगुप्त की आख्यायिकाएँ; माइकेल मधुसूदन दत्त, नबीन सेन, रवींद्रनाथ, अतुलप्रसाद सेन, चित्तरंजन दास, नज़रुल इस्लाम की कविताएँ; द्विजेंद्र लाल राय, गिरीश बोस, अमृतलाल बोस के नाटक—बँगला में; ग़ालिब, हाली, इक़बाल, चकबस्त, अकबर की कविता, रुसवा और सरशार के उपन्यास, आज़ाद और शिबली के निबंध; 'अवधपंच', 'ज़माना', 'निगार' तथा अन्य पत्रों का कार्य पत्रकारिता के क्षेत्र में; पद्य-रचना संबंधी विविध प्रयोग—उर्दू में; हरिश्चंद्र, अयोध्यासिंह, सुमित्रानंदन, निराला, मैथिलीशरण, तथा अन्य तरुण-कवियों की कविता; प्रेमचंद के उपन्याम, सुदर्शन और कौशिक की आख्यायिकाएँ; महावीरप्रसाद द्विवेदी के निबंध; मिश्रबंधु, श्यामसुंदर दास, पद्मसिंह शर्मा की आलोचनाएँ—हिंदी में; इन सभी पर उन परिस्थितियों की छाप है जिन का वर्णन मैं ऊपर कर चुका हूँ। बिना अंग्रेज़ी शिक्षा और राष्ट्रीयता की भावना के ये साहित्य बिल्कुल भिन्न होते। संभव है वह और भी अच्छे होते, अथवा इतने भी न बन पड़ते; परंतु जैसे हुए हैं उन से भिन्न अवश्य होते।

यदि हम साहित्यिक विकास के क्रम का निरीक्षण करने के लिए ठहरें तो हम देखेंगे कि दो परस्पर-विरोधी प्रभाव काम करते रहे हैं। एक ओर तो अंग्रेज़ी का और उस के माध्यम से यूरोपीय साहित्यों का प्रभाव हमारे अवेक्षण को विस्तृत करता रहा है, हमारे मानसिक क्षितिज की सीमा को बढ़ाता रहा है, हमारी सहानुभूति को उदार बनाता रहा है, तथा हम में नए-नए साहित्यिक रूपों में प्रयोग करने की इच्छा उत्पन्न

करता रहा है; दूसरी ओर राष्ट्रीयता की भावना पुराने छंदों के चुनाव, संस्कृत उद्गम के शब्दों की खोज, और परंपरा-प्रतिष्ठित विषयों के दृढ़ता-सहित ग्रहण किए जाने के लिए उत्तरदायी रही है। साथ ही साथ सांप्रदायिक भावना ने भी हिंदुओं द्वारा कठिन संस्कृत शब्दों के और मुसल्मानों द्वारा अप्रचलित अरबी शब्दों के व्यवहार के रूप में उद्गार पाया है।

उपन्यास के क्षेत्र में मुख्य प्रेरणा स्कॉट और थैकरे से तथा कविता में शेली और स्विनबर्न से प्राप्त हुई है। परंतु ऐसा अनुमान करना भूल होगी कि भारतीय कवियों और उपन्यासकारों ने केवल अनुकरण किया है और उन में कोई मौलिकता नहीं है। वे अपने पैरों के बल पर खड़े हुए हैं। उन्हों ने भिन्न प्रकार के प्रयोग किए हैं, और अपने लिए वह रूप ग्रहण किया है जो उन के मत से भारतीय जाति तथा भाषा के अनुकूल हो। स्वतंत्रता के लिए युद्ध करते हुए, संसार की महान् जातियों के बीच अपने लिए जगह प्राप्त करने का प्रयत्न करते हुए, सभ्यताओं के संघर्ष के मध्य में, मध्यकालीनता और आधुनिकता के मिश्रण में, वर्ण-व्यवस्था के संरक्षण से निःसीम प्रतिस्पर्द्धा के परिवर्तन में, भारतीय लेखकों ने जिन विषयों का चुनाव किया है वह विभिन्न भी हैं और साथ ही अक्षय भी। समसामयिक जीवन तक सीमित रहने की उन्हें आवश्यकता नहीं—यद्यपि, जो कुछ भी वह लिखेंगे उस का अधिकांश उस जीवन से संबंध रखेगा जिस से वह परिचित हैं, और उन के रहन-सहन से निकटतम है। परंतु वह अतीत काल से भी वर्तमान के लिए प्रेरणा ग्रहण कर सकते हैं। आयर्लैंड के कवियों ने लोक-साहित्य, प्राचीन परंपरा, डायरमूड और डायड्री की कहानियों से विषय ग्रहण किए हैं और उन की कविताएँ साधारण आइरिश बालक और बालिकाओं द्वारा गाई जाती हैं। मिस्टर डब्ल्यू० बी० यीट्स अपने 'आक्सफोर्ड बुक आव् माडर्न वर्स' नामक काव्य-संग्रह की भूमिका में लिखते हैं—

"बारह वर्ष हुए आलिवर गोगर्टी अपने वैरियों द्वारा पकड़ लिया गया और लिफ़ी के तट पर एक निर्जन घर में बंदी किया गया, जहाँ कि मृत्यु की पूर्ण संभावना थी। एक स्वाभाविक आवश्यकता का कारण ले कर वह बाग़ में गया और पानी में कूद पड़ा और जिस समय कि वह तमंचों की गोलियों की बौछार में दिसंबर के बर्फ़-जैसे ठंडे जल को तैर कर पार कर रहा था, उस ने मानता की कि यदि मैं सकुशल नदी पार कर लूँगा तो उसे दो हंस चढ़ाऊँगा। जिस समय उस ने अपने वचन की पूर्ति की मैं उपस्थित था। उस की कविता इस घटना पर ठीक बैठती है, अर्थात् वह प्रसन्न, निस्संग और वीर-संगीत है"

यहाँ पर जीवन की एक महान् घटना काव्य-रूप में परिणत हो गई है, कविता सप्राण हो उठी है। जब कि कवि अपने को इस भाँति अपने देश से अभिन्न बना लेता है, और उच्च आत्म-निवेदन करता है तब कविता भी तेजमयी हो उठती है। इस प्रकार की कविता के कुछ उदाहरण हसरत मोहानी, नज़रुल इस्लाम, चकबस्त और नवीन ने प्रस्तुत किए हैं। आख्यायिकाएँ लिखने में, नए से नए अंग्रेज़ी पद्य-प्रयोगों की शैली में गीतों की रचना में, समसामयिक सामाजिक परिस्थितियों को विषय मान कर नाटच-रचना में हमारे लेखक पीछे नहीं रहे हैं। समालोचना के क्षेत्र में भी उन्हों ने पाश्चात्य से स्वतंत्रता-पूर्वक विचार ग्रहण किए हैं—साथ ही उन्हों ने इस बात का अनुभव नहीं किया है कि काव्य-समीक्षा तथा सौंदर्य-निरूपण-संबंधी विस्तृत साहित्य संस्कृत में भरा पड़ा है।

व्यंग्य और हास्य-संबंधी पद्य रचना, विशेष रूप से पनपी नहीं है—यद्यपि इस प्रसंग में अकबर का नाम उल्लेखनीय है। विनोदपूर्ण परिहास, सरस व्यंग्य, व्याजपूर्ण उपहास—इन्हें लिखने का सफलता पूर्वक प्रयत्न नहीं हुआ है। साहित्यिक आकांक्षियों के लिए इतिहास भी बहुत अच्छा क्षेत्र है। ऐसे जीवनचरित जो साहित्यिक महत्व भी रक्खें अभी लिखे नहीं गए। एकांकी नाटकों का विशेष-रूप से सृजन नहीं हुआ है।

इन आवश्यकताओं की पूर्ति कठिन नहीं है। परंतु हमारी आधुनिक भाषाओं को संपन्न बनाने के प्रयास में अपनी परम्परा से दूर हटना हमारे लिए घातक सिद्ध होगा। यह एक मूर्खतापूर्ण विचार है कि हिंदी अथवा बंगाली का काम बिना संस्कृत के चल सकता है अथवा उर्दू बिना हिंदी और फ़ारसी का पोषण पाए हुए जीवित रह सकती है। इन भाषाओं की थाती बड़ी भरी-पूरी है; अतीत से इन्हें बहुत प्रतिष्ठित उत्तरदान मिला है। नवीन के प्रेम में तथा विदेशी के आकर्षण में पड़ कर हमें पूर्ण अराष्ट्रीयता, से बचना चाहिए। हम रशन, फ्रेंच, जर्मन और इटालियन साहित्य से अवश्य जो चाहें सो ग्रहण करें, परंतु हमें उन्हीं अंशों को ग्रहण करना चाहिए जिन्हें हम पचा सकें। नहीं तो हमारी स्थिति उन जीवों की-सी हो जायगी जिन्हें, उन का आकार देखते हुए, अत्यधिक भोजन मिल गया है और हम लोग दंभियों की एक जाति बन कर रह जावेंगे।

भारतीय शिक्षा प्रणाली[1]

आचार्यप्रवर, स्नातकगण, विद्यार्थियो और सज्जनो,

भारतीय संस्कृति की प्राचीन परम्परा को सुरक्षित रखने वाली इस संस्था में आने का मुझे अवसर मिला है, मेरा सौभाग्य है। भारद्वाज मुनि के आश्रम के समीप प्रयाग विश्वविद्यालय में अध्ययन-अध्यापन में मेरा अब तक जीवन व्यतीत हुआ है और भागीरथी से यही प्रार्थना है कि "त्वदर्पितदृशः स्यान्मे शरीरव्ययः।" परन्तु प्रयाग में फिर भी आधुनिक उथल-पुथल, चहल-पहल पर्याप्त मात्रा में है। यहाँ आकर विशेष धन्य अपने को मैं इसलिए मानता हूँ कि इस शान्त वातावरण में विद्या, चिन्तन और तप के सभी साधन एकत्रित हैं, और यहाँ सुख से, निश्शंक, विद्यार्थी और गुरु, एकाग्र मन से अपने कर्तव्य का पालन कर सकते हैं, क्योंकि "निकटे जागर्ति जाह्नवी जननी।"

गुरुकुल की स्थापना भारतवर्ष के प्राचीन सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए हुई है। "पुराणमित्येव न साधु सर्वम्"—यह सत्य है और समय के अनुसार समाज में परिवर्तन होना भी उचित है। परन्तु सभ्यता के कुछ ऐसे मूल सिद्धान्त हैं जिनका परिपालन आवश्यक है। भारतीय संस्कृति की कुछ विशेषतायें हैं जिनके कारण यह अभी तक संसार की संस्कृतियों में है और जिनकी जीवित रहने की शक्ति का प्रमाण यह है कि और प्राचीन संस्कृतियाँ नष्ट हो गई और यह अभी तक विद्यमान है। हाँ, और जीवित रहेगी यदि हम इसके अयोग्य न सिद्ध हों, यदि

---

[1] **गुरुकुल विश्वविद्यालय, काँगड़ी, के ४२ वें वार्षिकोत्सव (संवत् २००१, सन् १९४४) में दिया गया दीक्षान्त भाषण।**

हम अपने पूर्वजों के निर्धारित मार्ग का अनुसरण करते रहें, यदि हम यह स्मरण रखें कि "तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।"

× × ×

भारतवर्ष में जो शिक्षा-प्रणाली आजकल प्रचलित है उस में बहुत से गुण हैं। विज्ञान की शिक्षा, इतिहास और भूगोल की शिक्षा, मनोविज्ञान की शिक्षा, इत्यादि कई अंशों में इस से हमारा बहुत उपकार हुआ है और हो रहा है। पश्चिमीय ज्ञान और पश्चिमीय भाषाओं के सीखने का अवसर मिलता है। परन्तु इस शिक्षा-पद्धति के आदि निर्माताओं की मनोवृत्ति अशुद्ध थी। उन का विश्वास था कि यूरोप की पुस्तकों की एक अल्मारी में जितना ज्ञान मिलेगा उतना समस्त पूर्वीय ज्ञान भाण्डार में नहीं है। इस दूषित धारणा से हमारी शिक्षा-प्रणाली अब भी कलुषित है। पश्चिम की सब वस्तुओं का हम सम्मान करते हैं और अपनी सब वस्तुओं की अवहेलना करते हैं। सबसे बड़ा दोष इस प्रणाली में यह रहा है कि शिक्षा एक विदेशी भाषा द्वारा दी जाती रही है। मैं अँगरेज़ी भाषा का विरोधी नहीं हूँ। मैंने अँगरेज़ी साहित्य का रसास्वादन किया है। अँगरेज़ी के अध्ययन और अध्यापन में मुझे आनन्द मिला है। अँगरेज़ी के प्रधान लेखकों की कृति को मैं बड़ी रुचि से पढ़ता हूँ। अँगरेजी विश्वव्यापिनी भाषा हो गई है। भारतवर्ष में भी अँगरेजी का प्रचार रहेगा और रहना चाहिए। अँगरेजी का व्यवहार तो अभी बहुत दिन तक इस देश में होता रहेगा। परन्तु यह अनुचित है कि यह भाषा शिक्षा का माध्यम हो। प्रत्येक बच्चे का यह अधिकार है कि उस की शिक्षा उस की मातृभाषा द्वारा ही हो। उसी से बच्चा सुशिक्षित हो सकता है। प्रारम्भिक कक्षाओं के बच्चों के प्रति अन्याय है कि मातृभाषा के अतिरिक्त किसी और भाषा द्वारा उस की शिक्षा हो। मध्यमवर्ग में सम्भव है कि सभी मातृभाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने में कठिनाइयाँ हों और मुख्य प्रान्तीय भाषा का ही उपयोग हो—परन्तु उस समय

तक विद्यार्थी मन से और शरीर से इस भार को सह सकेगा। उच्च कक्षाओं में भी यथाशीघ्र देशी भाषाओं द्वारा ही शिक्षा होनी चाहिए। इस से सम्भव है कि व्यय कुछ बढ़ जाये, कई सस्थाओं में एक से अधिक भाषा का प्रबन्ध करना आवश्यक हो। बम्बई में गुजराती और मराठी के भिन्न-भिन्न वर्ग होंगे, संयुक्तप्रान्त, पंजाब और बिहार में हिन्दी और उर्दू के भिन्न वर्ग होंगे। परन्तु फिर भी अपनी भाषा में अपने विचारों को हम सुगमता से प्रकट कर सकेंगे और विद्यार्थी सुगमता से समझ सकेंगे। इस के लिए आवश्यक है कि प्रत्येक पाठ्य विषय पर देशीय भाषाओं में पुस्तकें लिखी जायँ। जितनी हिन्दी और उर्दू के प्रचार के लिए संस्थायें हैं उनको चाहिए कि और सब काम को छोड़ कर इस ओर ध्यान दें और उत्तम से उत्तम पुस्तकें लिखवायें और प्रकाशित करें। यहाँ गुरुकुल में आरम्भ से ही समस्त शिक्षा हिन्दी में हो रही है और यह यहाँ की एक विशिष्टता है इस की जितनी प्रशंसा की जाय कम है।

वर्तमान शिक्षा पद्धति की दूसरी कमी यह है कि इस में धार्मिक शिक्षा का कोई स्थान नहीं है। राजकीय विद्यालयों में इस का कारण यह था कि राजधर्म देश के निवासियों के धर्म्मों से भिन्न था और धार्म्मिक शिक्षा का सम्बन्ध राजकीय शिक्षा-विभाग से होना कठिन था। ऐतिहासिक कारण जो कुछ भी हो, फल यह हुआ कि लगभग पचहत्तर वर्ष से हम लोगों में धार्म्मिक शिक्षा का अभाव रहा है। हमारी पाठशालाओं और हमारे मकतबों में आरम्भ से ही धार्म्मिक शिक्षा प्रधानता रखती थी। धर्म्म का यथार्थ ज्ञान, धार्म्मिक तत्त्वों का परिचय, धर्म्म के इतिहास का अनुशीलन, भिन्न-भिन्न धर्म्मों के सिद्धान्तों का ज्ञान, समुचित रूप से शिक्षित पुरुष की भाँति जीवन व्यतीत करने के लिए आवश्यक है। चरित्र के संगठन के लिए धर्म्म का प्रभाव बहुत ही प्रबल होता है। हमारी शिक्षा प्रणाली में इस सुधार की बहुत बड़ी आवश्यकता है। संसार की

बहुत-सी उलझनें, बहुत-सी समस्यायें सुलझ सकती हैं, बहुत-सी अनिष्ट प्रवृत्तियाँ धार्म्मिक शिक्षा द्वारा नष्ट हो सकती हैं। इस शिक्षा से पाशविक अंश हमारी प्रकृति से दूर हो सकता है। इसका प्रभाव हम पर यह पड़ेगा कि हम समस्त सृष्टि से अपने को संलग्न समझेंगे, हम में दया और वात्सल्य का भाव आ जायेगा, हम अपने स्रष्टा के समीप पहुँचने का प्रयास करेंगे, हम अपने को सच्चरित्र, सदाचारी, लोकसेवा-निरत बना सकेंगे, मन से, वचन से, शरीर से सत्य और शिव का अनुसंधान करेंगे। "नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये।" गुरुकुल में धर्म्म की शिक्षा होती है, यह सन्तोष का विषय है। यथार्थ धार्म्मिक पुरुष वह है जिसके विचार, मत, और भाव में संकीर्णता न हो। "नैको मुनिर्यस्य मतन्न भिन्नम् !" यह आवश्यक है कि अपने धर्म्म का परिपालन करते हुए हम यह भी मानें कि औरों को भी अपने धर्म्म के पालन करने का अधिकार है। जो पुरुष वास्तव में धार्म्मिक है वह तो कभी अन्य मतों और धर्म्मो की अवहेलना नही करेगा। उसका सिद्धान्त है—"वसुधैव कुटुम्बकम्।"

वर्तमान शिक्षा-प्रणाली की एक और कमी यह है कि अधिकतर विद्यालय शहरों में स्थापित हुए और इसके कारण विद्यार्थियों को अपने घरों से बहुत दूर जाकर रहना पड़ता है। बड़े-बड़े प्रासादतुल्य विद्यालय बन गये, छात्रावास भी सुन्दर से सुन्दर बने, विद्यार्थियों का रहन-सहन भी आवश्यकता से अधिक विलासमय हो गया। पढ़ने में बहुत धन की अपेक्षा होने लगी और साधारण स्थिति के मनुष्य के लिए प्रायः असम्भव हो गया कि अपने बच्चे को उच्च शिक्षा दिला सके। पढ़े-लिखे लोगो के जीवन में एक प्रकार की अस्वाभाविकता आ गई, अपनी परम्परागत परिस्थितियों से वे अलग हो गये। इस के कारण उच्च शिक्षा प्राप्त लोगों में तथा औरों में बड़ा अन्तर हो गया। प्राचीन समय में बड़ा से बड़ा विद्वान् अपने समाज का एक अंश बना रहता था, अब पढ़े-लिखे लोग अपने समाज से अपने को भिन्न समझने लगे। यह आवश्यक है कि विद्यालय देहातों में

स्थापित हों और साधारण स्थिति के विद्यार्थी को भी उच्च से उच्च शिक्षा पाने का अवसर मिले।

× × ×

शिक्षा का ध्येय क्या होना चाहिए ? आप के उपाध्यायवर्ग आप को शिक्षा क्यों देते हैं ? आप यहाँ क्यों आये हैं ? कभी आप इन प्रश्नों का उत्तर सोचते हैं ? आप शिक्षा प्राप्त करके किस योग्य बनते हैं ? हमारे शास्त्रों के अनुसार शिक्षा के ये उद्देश्य थे—श्रद्धा, मेधा, प्रजा, धन, आयु, अमृतत्व। आप देखेंगे कि ये उद्देश्य कितने सर्वव्यापी हैं। श्रद्धा माता-पिता के प्रति, गुरुजनों के प्रति, ईश्वर के प्रति—विनय, अपने को अहङ्कार से बचाना, बुद्धि का विकास, बुरे-भले का ज्ञान, विचारशक्ति; पुष्ट और हृष्ट सन्तान उत्पन्न करना; धनोपार्जन की योग्यता प्राप्त करना; आयुष्मान होना, शरीर की रक्षा करना, बलवान होना; अमृतत्व प्राप्त करना—ये शिक्षा के उद्देश्य हैं। विद्या विवाद और वितंडा के लिए नहीं, ज्ञान के लिए; धन विलास और व्यसन के लिए नहीं, दान के लिए; शक्ति औरों को कष्ट देने के लिए नही, निर्बल की सहायता के लिए—यह लक्ष्य होना चाहिए। सदा ध्यान इसका रहना चाहिए कि व्यावहारिक क्षमता से पारमार्थिक उन्नति होनी चाहिए। यदि आप केवल धनोपार्जन के योग्य बनना चाहते हैं तो विद्यापीठ में आना अनावश्यक है। यदि आप केवल परलोक का चिन्तन करना चाहते हैं तो समाज को आप से कोई आशा नहीं हो सकती है। आप यदि केवल अपने शरीर को सुन्दर और पुष्ट बनाना चाहते है तो आप पहलवानों के अखाड़ों में जाकर रहिए। विद्यापीठ की शिक्षा तो ऐसी है कि यहाँ से जब आप बाहर जायें तो आपके मुख पर स्वास्थ्य और सच्चरित्र की झलक हो, आप के मन में लोकसेवा की भावना हो, आप के मस्तिष्क में सदसद् का विवेक हो, आप के शरीर में अन्याय-निवारण की शक्ति हो, आप के हृदय से ईश्वर की आराधना हो।

छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि नारद ने सनत्कुमार से कहा कि "मुझे आप शिक्षा दीजिए।" सनत्कुमार ने उत्तर दिया कि "जो कुछ तुम जानते हो सो बताओ। तब मैं उस से आगे की शिक्षा दूँगा।" नारद ने कहा—"ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं ँ सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदं पित्र्यँ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि।" प्राय: १२०० वर्ष पूर्व की शिक्षा-पद्धति का वर्णन हमें बाण की "कादम्बरी" में मिलता है। चन्द्रापीड के अध्ययन की समाप्ति पर बाण लिखते हैं:—

"मणिदर्पण इवाति निर्मले तस्मिन् संचक्राम सकल: कलाकलाप:। तथाहि पदे वाक्ये प्रमाणे धर्मशास्त्रे राजनीतिषु व्यायामविद्यासु चापचक्रचर्मकृपाणशक्तितोमरपरशुगदाप्रभृतिषु सर्वेष्वायुधविशेषेषु रथचर्यासु गजपृष्ठेषु तुरंगमेषु वीणावेणुमुरजकांस्यतालदर्दुरपुटप्रभृतिषु वाद्येषु भरतादिप्रणीतेषु नृत्तशास्त्रेषु नारदीय प्रभृतिषु गान्धर्वशास्त्रेषु शकुनिरुतज्ञाने ग्रहगणिते रत्नपरीक्षासु वास्तुविद्यासु आयुर्वेदे यंत्रप्रयोगे विषापहरणे सुरंगोपभेदे तरणे लंघने कथासु नाटकेषु आख्यायिकासु काव्येषु महाभारतपुराणेतिहासरामायणेषु सर्वलिपिषु सर्वदेशभाषासु सर्वसंज्ञासु सर्वशिल्पेषु छन्द:सु अन्येष्वपि कलाविशेषेषु परं कौशलमवाप।"

× × ×

स्नातको! आप आर्यसन्तान हैं और आप का कर्त्तव्य है कि आप अपने आचरण से आर्य कहलाने योग्य बनें। अपने ग्रन्थों से हम जान सकते हैं कि आर्यसन्तान से किन बातों की आशा की जाती है। देवव्रत को स्मरण कीजिये। शन्तनुपुत्र, राज्य का उत्तराधिकारी, अपने पिता को सुखी करने के कारण, आजन्म ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा करता है। राजा की सेवा में अपना जीवन व्यतीत करता है। राजा को इष्ट-

अनिष्ट का उपदेश देता है। सभा में, रणक्षेत्र में, राजा के हित-साधन में यथाशक्ति लगा रहता है। कुरुक्षेत्र में इस वीरता और शौर्य और पराक्रम से लड़ता है, पाण्डव सेना का इस प्रकार से संहार करता है, कौरवों को इतना उत्साहित करता है, कि श्रीकृष्ण अपनी प्रतिज्ञा भंग करके अपना शस्त्र उठाते हैं, और भीष्म हाथ जोड़ कर प्रणाम करता है— "एह्येहि देवेश ! जगन्निवास !" रात को जब दोनों सेनायें आराम करती है तो कौरव और पाण्डव दोनों पितामह के पास जा कर अपनी भक्ति और श्रद्धा समर्पित करते हैं। जो कभी अपने कर्त्तव्य-पथ से भ्रष्ट नही हुआ उसका कितना सम्मान है !

रामचन्द्र, अयोध्या के भावी राजा, अपने पिता के दिये हुए वचन को पालने के लिए बारह वर्ष का वनवास स्वीकार कर, अनेक प्रकार का कष्ट सहते हुए, देश प्रदेश में भटकते हुए, कन्द मूल का आहार करते हुए, अयोध्या से लंका जाते हैं। उन के कष्ट के वृत्तान्त से "अपिग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्"। सीताहरण का दुःख सहते हैं, वृक्षों से, आकाश से, पर्वत से, पवन से पूछते है "सा सीता केन नीता ममहृदयगता क्वापि केनापि दृष्टा।" रावण को हरा कर अयोध्या आते हैं, परन्तु वहाँ भी क्लेश पीछा नही छोड़ता है। प्रजा को सन्तुष्ट रखना राजा का धर्म्म है। दशरथ के सम्बन्ध में राम कहते हैं—

"सतां केनापि कार्य्येण लोकस्याराधनं व्रतम्।
यत्पूजितं हि तातेन मां च प्राणांश्च मुचताम्॥"

प्रजा को प्रसन्न रखने के निमित्त सीता का भी परित्याग करते हैं—

"स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकानां मुंचतो नास्ति मे व्यथा॥"

कर्त्तव्य के पालन में राम ने क्या क्या दुःख नहीं सहा ? यही कारण है कि अब भी वे मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाते हैं।

भ्रातृवत्सल भरत और लक्ष्मण के उदाहरण आप के सामने है। वचन के पालने के लिए सब त्याग करनेवाले हरिश्चन्द्र का आदर्श आप के सामने है। अपने कुत्ते को पीछे छोड़ कर स्वर्ग में प्रवेश करने से अस्वीकार करनेवाले युधिष्ठिर; माता की आज्ञा शिरोधार्य करके स्वयं अपनी आखे निकालनेवाले कुणाल; स्वाधीनता के लिए जीवन को न्यौछावर करनेवाले महाराणा प्रताप; कवियों को प्रत्यक्षर लक्ष देनेवाले भोज; इत्यादि अनेक ऐसे आदर्श है जिन का अनुकरण कर आप आर्यपद के अधिकारी हो सकते है।

× × ×

आज ससार में बड़ा संघर्ष है। सभ्यता के जीवन मरण का प्रश्न है। शान्ति कठिन है। अशान्ति फैली हुई है। असहिष्णुता, लोभ, मोह, ईर्ष्या, क्रोध का प्राधान्य है। ऐसे समय में हमारा कर्त्तव्य क्या है ? एक तो यह कि हम अपने आदर्शो को न भूलें और दूसरा यह कि उन की रक्षा के लिए हमें जो कुछ भी करना पड़े हम करें। यदि शस्त्र ग्रहण करना पड़े, रण में जाना पड़े, जान से हाथ धोना पड़े, तब भी अपने देश, अपने आदर्श, अपने धर्म्म की रक्षा हम करेंगे। हमे विश्वास है कि इन की रक्षा से संसार का कल्याण होगा, हमारा दृढ़ मत है कि हमारी संस्कृति में अमर होने की शक्ति है, हमारी सभ्यता के मूल सिद्धान्तों के अनुकरण करने से जगत् का हित है। "ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः"—इस मंत्र से विश्व की भलाई होगी। शान्ति की संस्थापना के लिए हमें यत्नशील होना चाहिए। आप की शिक्षा का यह तो फल अवश्य होना चाहिए कि यदि संसार में शान्ति नहीं है तो कम से कम आप के हृदय में शान्ति रहे, आप का अन्तःकरण भयशून्य रहे, आप क्षमावान् हों। आप में धैर्य हो, आप का चित्त आप के वश में हो, आप में संयम हो, आप की प्रजा सफल हो, सत्य से आप को प्रेम हो, अपकर्म से आप पराङ्मुख रहें, आप में श्रद्धा और भक्ति और दया रहे। एक दूसरे के प्रति सुहृद्भाव रहे।

आप का वचन मधुर हो, आप का आचरण सुन्दर हो, आप की भावना शुद्ध हो।

"समानो मंत्रस्समितिस्समानी
समानं मनस्सह चित्तमेषाम्।
समानं मंत्रमभि मंत्रये वः
समानेन वो हविषा जुहोमि॥"

शिक्षा में स्वराज्य

इस देश में कई कारणों से राजतन्त्र पर अनावश्यक और हानिकारक रूप से सबका ध्यान रहता है। यदि यहाँ की दशा कोई ध्यान से देखे तो प्रतीत होगा कि जनता के जीवन में राजनीति न केवल सबसे मुख्य किन्तु एकमात्र विचार का विषय है। यह सत्य है कि देश की राजनैतिक अवस्था पर विचार करना सबका कर्तव्य है, पर जीवनक्षेत्र को इतना संकुचित करना अनुचित है कि और किसी विषय का उल्लेख न हो। किसी भी दैनिक पत्र को उठा कर देखिये, या तो राजनीति अथवा धार्मिक विवाद, यही दो विषय हैं, इन्ही पर सम्पादकीय टिप्पणी है, संवाददाता इन्हीं विषयों के समाचार भेजते है, पाठक इन्हीं की खोज में रहते है। यह सर्वथा गर्हणीय है। शिक्षा, साहित्य चित्र-कला, संगीत, व्यापार, व्यायाम, विज्ञान—यह भी तो विषय विचार के योग्य है। समाज-सुधार, स्त्रियों का प्रश्न, भाषा की वृद्धि, इन पर भी तो कभी ध्यान देना चाहिये। न तो व्यक्ति-विशेष न जन-संघ ही केवल राजनीति के ध्यान में मग्न रह सकता है। यदि सदैव इसी विषय में लीन रहेगा तो मनुष्य में एक प्रकार की अमानुषता आ जायगी, औदार्य्य जाता रहेगा और उसका जीवन रसहीन हो जायगा। राजनीति पर कोई व्याख्यान देता है, तो सैकड़ों आदमी सुनने को जमा हो जाते हैं। धार्मिक शास्त्रार्थ अथवा विवाद हो तो असंख्य भीड़ हो जाती है। कितने शोक की बात है कि अन्य विषयों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित नही किया जाता।

शिक्षा प्रणाली का विषय तो इतना गम्भीर और देश के कल्याण अथवा अहित का इतना प्रधान-साधक है कि इस की ओर देश के नेताओं का ध्यान सदा आकर्षित रहना चाहिये। आज की जैसी शिक्षा है, कल

देश की वैसी ही दशा होगी। खेद है कि शिक्षा-पद्धति कैसी होनी चाहिये, अध्यापकों की क्या योग्यता होनी चाहिये, किन विषयों पर शिक्षा आवश्यक है, शारीरिक पुष्टि के क्या उपाय होने चाहिये, इत्यादि विषयों की चर्चा बहुत कम होती है।

भारतवर्ष की आधुनिक शिक्षा-प्रणाली का कोई विशेष उद्देश्य अब नही है। जब इस का प्रारम्भ हुआ था उस समय शासन विभाग के छोटे पदो पर नियुक्त होने योग्य मनुष्यों को तैयार करना प्रधान उद्देश्य था। साथ ही लार्ड मेकौले का यह सिद्धान्त भी गवर्नमेंट ने स्वीकार कर लिया था कि पश्चिम की एक कोई भी पुस्तक भारत के समस्त साहित्य-भांडार से विशेषतर है। इसलिये प्रयास यही रहा कि पश्चिमीय ज्ञान ही भारत के बच्चों को दिया जाय—पश्चिम का साहित्य, पश्चिम का विज्ञान, पश्चिम की भाषा। स्कूल तक तो हिन्दी और उर्दू का अच्छा-बुरा सम्बन्ध भी था, परन्तु कालिजों में इन का नाम भी नही। संस्कृत और फ़ारसी के प्रश्नपत्र अँगरेज़ी में रहते थे और उत्तर भी इन का अँगरेज़ी ही में देना पड़ता था। अँगरेज़ी में जितनी पुस्तकें पढ़ाई जाती थीं उन में शायद ही कहीं धोखे से हिन्दुस्तान का नाम आ जाता था। यहाँ तक विचार-परतन्त्रता की सीमा बढ़ गई थी कि पढ़े लिखे भारतवासी इंगलेण्ड को अपना 'होम', मातृभूमि कहने लगे, और एक सुशिक्षित बंगाली के सुख की इयत्ता यह थी कि वह अँगरेज़ी भाषा में स्वप्न देखे। राजनैतिक जागृति और आन्दोलन का फल यह हुआ कि हमारे नेता हमें सिखाने लगे कि केवल भारत ही ज्ञान का भंडार है, धर्म कहीं है तो यहीं है, हवाई जहाज़ यहाँ उड़ते थे, प्रजातन्त्र भी हमारे लिये नई वस्तु नहीं है, कलाओं का, विज्ञान का, साहित्य का कोई अंश ऐसा नही जो भारतवर्ष में न पाया जाता हो। परिणाम इसका यह हुआ कि स्वदेशाभिमान तो हममें यथेष्ट आ गया—और साथ ही विश्व-प्रेम का और यथार्थ ज्ञान-सञ्चालन का संहार हो गया।

यह निर्विवाद है कि मातृ-भाषा ही शिक्षा का उत्तम माध्यम है। आरम्भ में कुछ कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। विज्ञान के अनेक शब्द हैं जितना हिन्दी अथवा उर्दू में कोई समीचीन पर्यायवाचक शब्द नहीं है। परन्तु उन के गढ़ने की भी कोई आवश्यकता नहीं है। जीवित भाषा की तो यही विशेषता है कि जहाँ से अच्छा शब्द मिले, जिस भाषा से भी हो, उसे अपना लेती है। अँगरेज़ी में अनेक संस्कृत और अरबी शब्दों का समावेश हो गया है। कोई कारण नहीं कि साइन्स के ऐसे शब्द—हैड्रोजेन, गैस, इलेक्ट्रिसिटी—जो समस्त संसार में प्रसरित हैं, यथावत् क्यों हिन्दी और उर्दू में प्रयोग किये जायँ। इनके निमित्त क्लिष्ट शब्दों का आविष्कार अनावश्यक ही नहीं, हानिकारक भी है। मातृ-भाषा में शिक्षा-प्रदान होने पर हमारे नवयुवक निरवरोध-रूप से ज्ञान-संचय कर सकेंगे और ज्ञान की वृद्धि कर सकेंगे।

साथ ही यह भी हमें न भूलना चाहिये कि इस युग में कोई भी देश सब प्रकार से स्वतन्त्र नहीं रह सकता। राज्य-शासन में तो स्वतन्त्रता सबको इष्ट है और होनी चाहिये। 'वायरलेस' का आविष्कार यदि इटालियन मारकोनी ने किया तो क्या हम उस से उपकार नहीं उठा सकते? "हैमलेट" इंगलेण्ड में लिखा गया, पर क्या हम उस के आनन्द से वंचित रहें? आइन्स्टैन जर्मन है तो क्या हमारा शत्रु है? इस प्रकार का स्वदेश-प्रेम शिक्षा के क्षेत्र में विष का काम करेगा। शिक्षा में औदार्य्य परम् आवश्यक है। और जब यह उदारता हमारे शिक्षकों में आ जायगी तभी यथार्थ शिक्षा में स्वराज्य मिलेगा।[1]

---

[1] सरस्वती (प्रयाग), जनवरी, सन् १९३० ई०, में प्रकाशित।

हिन्दी भाषा और साहित्य[1]

देवियो और सज्जनो,

सम्मेलन के सभापति के आसन पर बिठा कर जो आप ने मेरा सम्मान किया है, उस का मैं किन शब्दों में धन्यवाद दूँ? जिस पद को प्रसिद्ध साहित्यिकों और देश के आदरणीय नेताओं ने सुशोभित किया है, उसके योग्य मैं अपने को नहीं समझता हूँ। हिन्दी मेरी मातृभाषा नहीं है, सम्मेलन से मेरा सम्बन्ध एक ही वर्ष से है, सम्मेलन के किसी और अधिवेशन में उपस्थित होने का भी मुझे सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ था। हिन्दी की कुछ सेवा मुझ से हो सकी है, इस का मुझे गौरव अवश्य है। बीस वर्ष से अधिक हुआ मैंने प्रयाग-विश्वविद्यालय में हिन्दी की एम० ए० परीक्षा में स्वीकृति का प्रस्ताव किया था और हिन्दी की विश्वविद्यालय में उच्च शिक्षा के सम्बन्ध में भी मेरा उद्योग रहा है। परन्तु यह सेवा ऐसी नहीं कि जिस का पुरस्कार मुझे इस पद के रूप में मिले। यह आसन तो विद्यावृद्ध, वयोवृद्ध, आजन्म उपासकों का है। मैं तो केवल राष्ट्रभाषा के महारथियों का अनुयायी हूँ। यदि मैंने फिर भी आप की आज्ञा शिरोधार्य्य की है तो इस कारण से कि मैं हिन्दी को राष्ट्रभाषा समझता हूँ, मैं समझता हूँ कि समस्त देश में ग्राह्य होने की क्षमता इसी में है, और इस के प्रचार और अनुशीलन से देश में ऐक्य हो सकता है। हमारे देश की संस्कृति इसी के द्वारा संरक्षित रह सकती है। प्राचीन समय में देश के एक कोने

---

[1] **अखिल भारतवर्षीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के तीसवें (अबोहर) अधिवेशन (दिसम्बर २७, २८, २९, ३०, १९४१ ई०, संवत् १९९८) में सभापति के पद से दिया गया भाषण।**

से दूसरे तक संस्कृत का प्रचार था। काश्मीर के पंडित मथुरा के विद्वान् से संस्कृत में पत्राचार करते थे, नवद्वीप और मिथिला के विद्वान् काशी और उज्जयिनी के पंडित से संस्कृत में शास्त्रार्थ करते थे। अब भी प्रयाग के पंडित मदुरा के पंडित से संस्कृत में ही पत्र-व्यवहार करते हैं। राजाओं की सभाओं में संस्कृत पंडितों का मान था। हमारे धर्म्म-ग्रन्थ, हमारे नाटक और पुराण, हमारे काव्य और दार्शनिक ग्रन्थ, हमारी ज्योतिष और गणित की पुस्तकें सभी संस्कृत में थीं। जिस प्रकार यूरोप में लैटिन अन्तर्राष्ट्रीय भाषा थी, वैसे ही संस्कृत यहाँ सब प्रदेशों की भाषा थी।[१] प्रान्तीय भाषायें तो थीं हीं, उनमें भी जनता के योग्य साहित्य की रचना होती थी, परन्तु इन भाषाओं का क्षेत्र सीमित था, प्रान्तविशेष में ही इनका प्रचार था। मुग़ल-साम्राज्य में फ़ारसी का आधिपत्य उत्तरीय भारत पर हो गया, परन्तु देशी भाषाओं की फिर भी उन्नति होती रही और विदेशी भाषा मनोभाव अथवा संस्कृति पर अधिकार न करने पाई। इतना अवश्य है कि शहर में रहनेवाले, राज्य के कर्मचारी फ़ारसी लिखने-पढ़ने लगे, परन्तु यह भाषा सार्वजनिक नहीं हो पाई। मुग़ल-साम्राज्य के अनेक मुसलमान विद्वान् संस्कृत और हिन्दी के पंडितों और कवियों का सम्मान करते थे और उन में से कई की हिन्दी कृति हम अब भी आनन्द और आदर के साथ

---

[१] **सन् १९३६ ईसवी में बङ्गलोर में व्याख्यान देते हुए महात्मा गांधी ने कहा :—**

"The reason why Hindi is so ridiculously easy is that all the languages, including even the four South Indian, spoken by Hindus in India contain a large number of Sanskrit words. It is a matter of history that contact in the old days in the South and the North used to be maintained by means of Sanskrit. Even today the Sastris in the South hold discourses with the Sastris in the North through Sanskrit."

पढ़ते हैं। हिन्दी के ग्रन्थ उस समय बिहार, संयुक्तप्रान्त, विदर्भ, बुंदेलखंड बघेलखंड, अवध, राजस्थान और पंजाब में लिखे गये। दक्खन के प्राचीन मुसलमान कवियों के काव्य में यदि दस शब्द फ़ारसी के हैं तो ९० शब्द एतद्देशीय हैं। आरम्भ के उर्दू-कवियों ने हिन्दी के शब्दों और छन्दों का प्रयोग किया। इधर सत्तर अस्सी वर्ष से जो हम में राष्ट्रीयता और आत्म-गौरव का भाव आ गया है और हम समझने लगे हैं कि हम सभी एक हैं, हमारा देश एक है, भारत एक अविभाज्य राष्ट्र है, इस का बहुत अंश में श्रेय अँगरेज़ी को है। सन् १८८६ ई० में जब कांग्रेस का पहला अधिवेशन हुआ, उस समय अँगरेज़ी ही एक ऐसी भाषा थी, जिस को सब प्रतिनिधि समझ सकते थे। अब भी अन्तर्राष्ट्रीय काम के लिए इस भाषा का ज्ञान आवश्यक है और हम में से कुछ को तो अँगरेज़ी सीखनी ही पड़ेगी। परन्तु किसी देश में अन्य देश की भाषा को प्रधानता का कोई अधिकार नहीं है, और इसलिए हम को चाहिए कि हम अपनी भाषा को ही इस योग्य बनायें कि इस के द्वारा हमारा सभी प्रकार का काम उचित रूप से चल सके।

यह हमारा सौभाग्य है कि सम्मेलन के तेरह भूतपूर्व सभापति हमारे पथप्रदर्शन के लिए विद्यमान हैं। महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय प्रथम अधिवेशन के सभापति थे। उन्हों ने अपने भाषण में आदेश किया था—"हमारा सर्वप्रधान कर्त्तव्य यह है कि हम स्वच्छ भाषा में हिन्दी लिखें।" महात्मा गांधी दो अधिवेशन के सभापति रह चुके हैं, और हिन्दी-प्रचार में यदि सफलता हुई है तो इस का बहुत श्रेय महात्मा जी को है।, महात्मा जी ने कहा था—"यदि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन हिन्दी-भाषा का प्रचार न करके केवल साहित्य की वृद्धि करे तो हिन्दी राष्ट्र-भाषा कैसे बन सकती है?" और फिर—"मेरे यह सब कहने का मतलब यह नहीं कि बग़ैर अवसर के भी हम दूसरी भाषाओं के शब्द लें। हम कङ्गाल नहीं हैं, पर कंजूस भी नहीं बनेंगे।" महात्मा जी की सहायता, उन का सहयोग, उन का औदार्य्य पाना सम्मेलन का महाभाग्य है। बाबू श्यामसुन्दरदास

ने नागरी-प्रचारिणी सभा में और हिन्दू-विश्वविद्यालय में जो हिन्दी की सेवा की है, गवेषणापूर्ण ग्रन्थों की रचना करके जो साहित्य की वृद्धि की है, हम कभी नहीं भूल सकते हैं। माननीय बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन तो प्रारम्भ से सम्मेलन के प्राण-स्वरूप हैं; टंडन जी का सम्मेलन से प्रेम, सम्मेलन के कार्य्य में तत्परता, हिन्दी-साहित्य से अनुराग, रातदिन हिन्दी के हित की चिन्ता हमारे लिए आदर्श हैं। ऋषितुल्य डाक्टर भगवानदास की विद्वत्ता, तीक्ष्ण बुद्धि, मौलिक विचारधारा का हमें गर्व है। डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद की कर्त्तव्यपरायणता, सरलता, गाम्भीर्य्य और नम्रता से तो हमें यही स्मरण होता है—'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि'। "हरिऔध" जी का स्थान आधुनिक कवियों में, व्रजभाषा और खड़ी बोली के कवियों में, सर्वोच्च है। महामहोपाध्याय गौरीशङ्कर जी ओझा की ऐतिहासिक और साहित्यिक पुस्तकें चिरस्मरणीय रहेंगी। रावराजा डाक्टर श्यामबिहारी मिश्र ने स्वयं और अपने बन्धुओं के सहयोग से जो हिन्दी-साहित्य के इतिहास की सामग्री एकत्रित की, जिस दत्तचित्त से उन्होंने अनेक विषयों पर और विविध रूप में हिन्दी की सेवा की है, उसके लिए हम सदा कृतज्ञ रहेंगे। सेठ जमनालाल बजाज का राष्ट्र-भाषा-समिति के सम्बन्ध में उत्साह सराहनीय है, उनके सहयोग से सम्मेलन को बल है। पंडित बाबूराव पराड़कर हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ लेखक और विशिष्ट पत्रकार हैं। पंडित अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी की वर्षों की हिन्दी की सेवा कौन भूल सकता है, और उन का विशुद्ध हिन्दी से प्रेम हमें उत्साह दिलाता है। बाबू सम्पूर्णानन्द की युक्ति-युक्त वक्तृता, जिसमें उन्होंने हिन्दी के यथार्थ रूप का स्पष्ट शब्दों में वर्णन किया था, सदा के लिए हिन्दी-प्रेमियों से आदृत रहेगी।

संग्रहालय

सम्मेलन ने जो कुछ काम पिछले तीस वर्षों में किया है वह कम नहीं है, बहुत सराहनीय है। कई अच्छे ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है, हिन्दी का

प्रचार हुआ है, भारतवर्ष की भाषाओं में हिन्दी आदर का स्थान पा गई है। यह सब होते हुए भी एक अंश अपूर्ण रह गया है—हमारा संग्रहालय अभी तक सन्तोषजनक नहीं हो पाया है। कुछ महीने हुए सम्मेलन ने अप्रकाशित हस्तलिखित पुस्तकों की खोज के लिए पंडित भगीरथप्रसाद जी दीक्षित को नियुक्त किया और वे काम बड़ी तत्परता से कर रहे हैं। परन्तु इस कार्य्य में हमें समस्त देश के हिन्दी-प्रेमियों के सहयोग की आवश्यकता है। हम चाहते तो यह हैं कि हमारा संग्रहालय उत्तरीय भारत और विदर्भ, मगध, मिथिला, राजस्थान इत्यादि प्रान्तों के पूर्व इतिहास के अन्वेषण का एक प्रधान केन्द्र हो जाय। हमारे यहाँ अभी बहुत ऐसे अमुद्रित ग्रन्थ छिपे पड़े है जिन से हमारी संस्कृति और हमारी इतिवृत्ति पर प्रकाश पड़ सकता है। हम चाहते हैं कि हमारे उच्च श्रेणी के विद्यार्थी और अध्यापक अधिक संख्या में संग्रहालय में बैठ कर अन्वेषण, अध्ययन, संशोधन और संपादन के काम में लगे रहें, दूर-दूर से लोग वहाँ आ कर हमारे संग्रह से लाभ उठायें, और वहाँ का भंडार प्रतिदिन बढ़ता रहे। हम आशा करते हैं कि इस संग्रह को सहायता प्रान्तीय शासनों से मिलेगी और जिस किसी हिन्दी-प्रेमी को किसी ग्रन्थ, लेख, चित्र अथवा किसी प्रकार की उपयोगी सामग्री का पता चले उस की सूचना सम्मेलन-कार्यालय को भेज देंगे। हमारे देश में बहुत-सी रियासतें हैं जिन की भाषा हिन्दी है और जहाँ से हमें सहायता माँगने का अधिकार है। बहुत-से और लक्ष्मी के कृपापात्र हैं जिन से हिन्दी को आशा है। इन के अतिरिक्त वे सरस्वती के उपासक हैं जिनके घरों में प्राचीन पुस्तकें सुरक्षित हैं, परन्तु जिन से साहित्य-समाज यथेष्ट उपकृत नहीं हो पाता। इन सबसे हमारी प्रार्थना है कि वे सम्मेलन के संग्रहालय को वास्तव में सम्मेलन के योग्य बना दें। अभी सम्मेलन का दपतर भी इसी आलय में है, पर हम प्रसन्नता से अपने कर्मचारियों का और दफ्तर का दूसरे स्थान में समावेश कर देंगे। हम यह भी चाहते हैं, भारत-सरकार से हमारा साग्रह निवेदन है, कि जैसे इँगलैंड की सभी

प्रकाशित पुस्तकें बोडलियन और ब्रिटिश म्यूज़ियम में भेज दी जाती हैं, वैसे ही इस देश में ऐसा विधान हो जाय जिस के अनुसार हिन्दी के सभी प्रकाशित ग्रन्थ और पत्र हमारे संग्रहालय में पहुँच जायें। इस में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती है। हम तो चाहते हैं कि इसी प्रकार का नियम और भाषा के केन्द्रों के लिए भी हो जाय—उर्दू का संग्रह दिल्ली के अंजुमन तरक्क़िये उर्दू में, बङ्गाली का बङ्गीय साहित्य-परिषद् में, इत्यादि।

हमारी आशा है कि कालक्रम से यह हमारा संग्रहालय हिन्दी-विश्व-विद्यालय का केन्द्र हो जायगा। विश्व-विद्यालय का एक प्रधान कर्त्तव्य का पालन तो सम्मेलन से हो ही रहा है। लगभग चार हज़ार विद्यार्थी हमारी परीक्षाओं में सम्मिलित होते हैं—इन की परीक्षा पाँच सौ से अधिक केन्द्रों में होती है। परीक्षा-केन्द्रों का बराबर निरीक्षण हुआ करता है। परीक्षाओं का पाठ्यक्रम का पूरा प्रबन्ध किया जाता है। "साहित्य-रत्न" के परीक्षार्थियों के लिए व्याख्यानों का आयोजन होता है। हम चाहते हैं कि कुछ विद्वानों को हम अध्यापक की पदवी दें और यदि आवश्यक हो तो उन का कुछ पारिश्रमिक भी नियत कर दिया जाय। हिन्दी-विश्व-विद्यालय के स्थापित करने के लिए हमें सयत्न होना चाहिए। हमें आशा है कि इस शुभ कार्य्य में महाराजा सेंधिया, महाराजा होलकर, दर्भङ्गा के महाराजाधिराज, काशीनरेश और ओड़छा, छतरपुर राज्यों से पूरी सहायता मिलेगी।

विश्व-विद्यालयों में हिन्दी

कुछ लोग यह कहा करते हैं कि भारतवर्ष के विश्व-विद्यालयों से देशीय भाषाओं की कोई सेवा नहीं हुई है और उन में अँगरेज़ी के प्राधान्य के कारण मातृभाषा का प्रेम लोप हो गया है। और भाषाओं का तो यहाँ प्रसंग लाना अनावश्यक है, परन्तु हिन्दी के विषय में यह आक्षेप सर्वथा मिथ्या और निर्मूल है। इसी सम्मेलन के भूतपूर्व सभापतियों में महामना

मालवीय जी, महात्मा मुंशीराम, पंडित श्रीधर पाठक, बाबू श्यामसुन्दरदास, पंडित माधवराव सप्रे, पांडेय रामावतार शर्मा, पंडित विष्णुदत्त शुक्ल, डाक्टर भगवानदास, बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन, बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर, डाक्टर श्यामबिहारी मिश्र, डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद, बाबू सम्पूर्णानन्द इन्हीं कुत्सित विश्व-विद्यालयों में शिक्षित हुए थे। लाला सीताराम विश्व-विद्यालय के पढ़े हुए थे। कम से कम हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में तो विश्व-विद्यालयों के पढ़े हुए विद्वानों का पूरा सहयोग रहा है। पंडित रामचन्द्र शुक्ल, पंडित केशवप्रसाद मिश्र, डाक्टर पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, श्री सत्यजीवन वर्मा, श्री नन्ददुलारे वाजपेयी, डाक्टर भीखनलाल आत्रेय काशी-विद्यालय से सम्बन्ध रखते हुए हिन्दी के बहुमूल्य ग्रन्थ प्रकाशित कर चुके हैं। पटना-विश्व-विद्यालय से सर गंगानाथ झा, हरिऔध जी, पंडित सुखदेवविहारी मिश्र, पंडित जयचन्द्र विद्यालंकार के "रामदीन हिन्दी-व्याख्यान-माला" का आयोजन हुआ है। इस विश्व-विद्यालय के डाक्टर ईश्वरदत्त, अध्यापक धर्म्मेन्द्र ब्रह्मचारी, आचार्य विश्वनाथप्रसाद, आचार्य जगन्नाथ राय, आचार्य जनार्दन मिश्र, आचार्य शिवपूजनसहाय, आचार्य राधाकृष्ण झा की हिन्दी-साहित्य-सेवा आदरणीय है। पंडित रामनारायण मिश्र, पंडित कृष्णकान्त मालवीय, पंडित वेङ्कटेशनारायण तिवारी, राजा राधिकारमणप्रसादसिंह, ठाकुर गुरु भक्तसिंह, श्री महादेवी वर्म्मा, श्री दुलारेलाल भार्गव, श्री भगवतीचरण वर्मा, श्री मिश्रबन्धु, प्रेमचन्द्र जी, श्री गंगाप्रसाद उपाध्याय, बाबू रामदास गौड़, श्री चन्द्रावती लखनपाल, श्री गुलाबराय, श्री उदयनारायण तिवारी, ठाकुर गोपालशरण-सिंह, श्री श्रीनारायण चतुर्वेदी, श्री नरेन्द्र, श्री सुमित्रानन्दन पन्त, श्री बालकृष्ण राव, श्री श्रीमन्नारयण अग्रवाल, श्रीरामचन्द्र टंडन, सर्दार माधवराव किबे, श्री शालग्राम वर्मा, प्रयाग-विश्व-विद्यालय में पढ़ चुके हैं। प्रयाग-विश्व-विद्यालय के वर्तमान अध्यापकों में पंडित शिवाधार पांडेय, डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा, डाक्टर रामप्रसाद त्रिपाठी, डाक्टर बेनीप्रसाद,

डाक्टर बाबूराम सक्सेना, डाक्टर रामकुमार वर्मा, बाबू ब्रजगोपाल भट-नागर, डाक्टर रमाशङ्कर शुक्ल, डाक्टर माताप्रसाद गुप्त, डाक्टर गोरख-प्रसाद, बाबू शालग्राम भार्गव, डाक्टर सत्यप्रकाश, डाक्टर उमेश मिश्र, पंडित देवीप्रसाद शुक्ल, पंडित दयाशङ्कर दुबे, श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त, श्री अमरनारायण अग्रवाल ने हिन्दी की अच्छी सेवा की है और कर रहे हैं। कानपुर के पंडित सद्गुरुशरण अवस्थी, पंडित मुंशीराम शर्मा और प्रिन्सि-पल हीरालाल खन्ना, लखनऊ के श्री दीनदयाल गुप्त, ग्वालियर के श्री गुरु-प्रसाद टंडन, जयपुर के पंडित रामशङ्कर शुक्ल, आगरे के श्री हरिहरनाथ टंडन, बीकानेर के श्री नरोत्तमदास स्वामी, पंजाब के डाक्टर सूर्यकान्त, जम्मू के डाक्टर सिद्धेश्वर वर्मा, शान्तिनिकेतन के श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी, कलकत्ते के श्री ललिताप्रसाद शुक्ल—विश्व-विद्यालयों के ही तो आचार्य हैं। न्याय यदि किया जाय तो यह मानना पड़ेगा कि आधुनिक हिन्दी-साहित्य के निर्माण में और हिन्दी के प्रचार में विश्व-विद्यालयों से प्रशंसनीय सहायता मिली है। प्रयाग-विश्व-विद्यालय से समस्त हिन्दी-काव्य-साहित्य के सम्पादन और प्रकाशन की आयोजना हैदराबाद के राजा पन्नालाल की उदारता से हो रही है। हम आशा करते हैं कि और भी हिन्दी-भाषा और साहित्य की उन्नति में विश्व-विद्यालय से दिनानुदिन सहायता मिलती रहेगी।

वैज्ञानिक परिभाषा

अभी कुछ दिन हुए सेन्ट्रल एडवांइज़री बोर्ड ऑफ़ एज्युकेशन (Central Advisory Board of Education) ने वैज्ञानिक परिभाषा के विषय पर विचार किया था और उस का विवरण भी अब प्रकाशित हो गया है। समाचारपत्रों में कुछ भ्रम फैला हुआ है जिसका संशोधन आव-श्यक है। इस बोर्ड के सामने प्रश्न यह था कि समस्त देश के लिए एक ही वैज्ञानिक परिभाषा हो सकती है कि नहीं। इस बोर्ड के सदस्यों में उर्दू और फ़ारसी के समर्थकों की संख्या बहुत थी। यही कारण था कि उप-

समिति ने देश का "हिन्दुस्तानी" और "द्राविडी" भाषाओं में विभाग कर दिया। सौभाग्यवश समिति के अधिवेशन में मैं इस का संशोधन "सांस्कृतिक" और "फ़ारसी-अरबी" के रूप में करने में सफल हुआ और इसी रूप में समिति का मत प्रकाशित हुआ है। सम्भव है कुछ का मत यह हो कि फ़ारसी-अरबी को स्थान नहीं मिलना चाहिए, परन्तु मेरी यह सम्मति नहीं है। इस देश में अभी भी बड़ी जन-संख्या ऐसी है जो संस्कृत से अनभिज्ञ हैं, जिन के धार्मिक और साहित्यिक ग्रन्थ अरबी और फ़ारसी में हैं, और जिन की इन भाषाओं के प्रति वही भक्ति और श्रद्धा है जो हमें संस्कृत के प्रति है। यह सत्य है कि मराठी, गुजराती, हिन्दी, बँगला, उड़िया भाषाभाषी संस्कृतमयी भाषा सुगमता से समझ सकते हैं, और तमिल, तेलगू, कन्नड, मलयालम जाननेवालों को भी संस्कृतपूर्ण भाषा के समझने में कठिनता नहीं होती है। परन्तु यह साहस किसे है कि समस्त देश-वासियों के लिए संस्कृत का ज्ञान अनिवार्य कर दे? ऐसी स्थिति में यही निर्णय समीचीन है कि नये वैज्ञानिक शब्द संस्कृत से और अरबी-फ़ारसी से लिये जायें, जिन की रुचि संस्कृत से है वे संस्कृत परिभाषा का प्रयोग करें, और अन्य फ़ारसी-अरबी का। संतोष का विषय है कि इस निर्णय के समर्थकों में सर रामुन्नी मेनन और डाक्टर रामलिङ्गरेडी जैसे द्राविड विद्वान् भी हैं। मेरी सम्मति भी यही है। हाँ, यदि एक ही परिभाषा सबके लिए होनी है तो लैटिन के शब्दों का ग्रहण उचित है। संसार भर में ये शब्द प्रचलित हैं। वैज्ञानिक अन्वेषकों और आविष्कर्ताओं के लिए इन का ज्ञान आवश्यक है। आपस के और झगड़े जब तक हैं—सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक—यही उचित है कि संस्कृत के और फ़ारसी-अरबी के प्रेमी अलग-अलग परिभाषा का व्यवहार करें। संस्कृत में जो शब्द विद्यमान हैं अथवा जो संस्कृत के सहारे बनाये जा सकते हैं उन का तो व्यवहार करेंगे ही, रही और शब्दों की बात, उन्हें हम अवश्य ग्रहण करेंगे, चाहे वे किसी भाषा के भी हों। विचार करने

पर यह विदित होता है कि वैज्ञानिक परिभाषा हिन्दी, मराठी, गुजराती, बँगला में बहुत अंश में एक ही है, और उर्दू में स्वाभाविकतया अरबी के शब्द हैं। नीचे की तालिका से स्पष्ट होगा कि संस्कृत-शब्द कितने प्रान्तों में ग्राह्य है और उर्दू-शब्द कितने अबोध्य हैं।

अँगरेज़ी	उर्दू	हिन्दी	मराठी	बंगाली
Antecedent	मुक़द्दम	पूर्वपद	पूर्वपद	पूर्वपद
Cube	मकाब	घन	घन	घन
Formula	ज़ब्ता	सूत्र	सूत्र	सूत्र
Transposition	तनक़ील	पक्षान्तर	पक्षान्तर	पक्षान्तर
Arithmetic	इल्मुल्हिसाब	अङ्कगणित	अङ्कगणित	अङ्कगणित
Algebra	जब्रोमुक़ाबला	वीजगणित	वीजगणित	वीजगणित
Dividend	मक़सूम	भाज्य	भाज्य	भाज्य
Magnitude	मिक़दार	परिमाण	परिमाण	परिमाण
Atmosphere	कुर्रा-ए-बाद	वायुमंडल	वायुमंडल	वायुमंडल
Cataract	जन्दाल	जलप्रपात	जलप्रपात	जलप्रपात
Anarchy	अदम हुकूमत	अराजकता	अराजकता	अराजकता
Epoch	ज़माना	युग	युग	युग
Amalgam	मलग़म	परदमिश्रण	परदमिश्रण	परदमिश्रण
Analysis	तशरीह	विश्लेषण	विश्लेषण	विश्लेषण
Assumption	फ़र्ज़िया	प्रमेय	प्रमेय	प्रमेय

बिहार की हिन्दुस्तानी कमिटी ने—जिसकी नीति से घबराकर हमारे भूतपूर्व प्रधान मन्त्री डाक्टर बाबूराम सक्सेना उससे अलग हो गये हैं—प्रयास किया है कि "संयुक्त ज़बान" में पारिभाषिक शब्द गढ़े जायें। इस ज़बान के कुछ विलक्षण शब्द ये हैं—"नज़रघेर", "मुक़ामी वक़्त" परन्तु इसको भी बहुत स्थान में अलग-अलग अरबी और संस्कृत की शरण लेनी पड़ी है—यथा—

Quantity	मिक़दार	राशि
Fraction	कसर	भिन्न
Fourth Proportional	तनासुब	चौथा समानुपात
Relative	इज़ाफ़ी	सापेक्ष
Projection	ताबीर	प्रास

हिन्दी-साहित्य

हमारा साहित्य उच्चकोटि के और साहित्यों की बराबरी कर सकता है। जहाँ सूरदास की भावपूर्ण कविता हो, कबीर के गूढ़ और सादी भाषा के पद हों, तुलसी के ग्रन्थरत्न हों; जहाँ केशव और पद्माकर का लालित्य और पद-विन्यास हो; जहाँ बिहारी का रस और मीरा की तल्लीनता हो; भूषण का जहाँ शौर्य्य हो और नन्ददास की भक्ति हो; उस साहित्य का किसे गौरव नही होगा ? जिस में मलिक मुहम्मद जायसी, अबदुर्रहीम ख़ानख़ाना 'रसखान', ग़ुलामनबी, उस्मान, नूरमुहम्मद, मुशी अजमेरी जी इत्यादि मुसलमानों की उत्कृष्ट रचनायें हों उससे कौन पुलकित न होगा ? देव की सरस कविता, नेह के दीवाने हरिश्चन्द्र के पद, लाला सीताराम के सुन्दर अनुवाद, श्रीधर पाठक के पद, रत्नाकर की सुरीली बीन, सत्य-नारायण के करुणा के स्वर, प्रेमघन की विविध शैली के पद्य, किस सुकवि-समाज को प्रभावित नहीं करेंगे ? अलङ्कार के ग्रन्थ, युद्धों की गाथा, सर्वसाधारण के उपयुक्त भजन और गीत, प्रचुरता से हमारे साहित्य में है। गद्य में महावीरप्रसाद द्विवेदी के लेख-संग्रह, गदाधरसिंह की और राजा शिवप्रसाद की पुस्तकें, बालकृष्ण भट्ट के निबन्ध, मिश्र-बन्धुओं का ग्रन्थ-समूह, पदुमलाल बख़्शी की रचनायें, श्यामसुन्दरदास और रामचन्द्र शुक्ल की पुस्तकें, पद्मसिंह शर्म्मा के लेख से हमारे साहित्य की श्री बढी है। अयोध्यासिंह उपाध्याय जिनकी कविता में अनुपम सजीवन जरी है; 'सनेही' जिनके बोल अनमोल है; गुरुभक्तसिंह जिन से प्रकृति का

कोई रहस्य छिपा नहीं है; गोपालशरणसिंह जो जीवन-कानन से वसन्त को जाते हुए देख कर अधीर रहते हैं; "हितैषी" जो दुखियों को अपनाने से सुखी हैं; जयशंकरप्रसाद की रूठी करुणा की वीणा; निखिल संसृति की आशा से चिर व्यथित "नवीन"; भगवतीचरण वर्मा जो अपना बन्धन तोड़ आगे चल रहे हैं; महादेवी वर्मा जिन की प्रार्थना है कि उन के छोटे जीवन में तृप्ति का कण न भग जाय; मैथिलीशरण गुप्त जो अपने हिंडोल-रूपी हृदय से इतने प्रसन्न हैं कि बन्धन से भी उन को प्रेम है; माखनलाल चतुर्वेदी के मर्मभेदी सरल पद्य; मोहनलाल महतो के गीत; रामकुमार वर्मा जो संध्या के काले अंबर में अरुण-विकास का मिटना देख कर व्यथित हैं; सुमित्रानन्दन पन्त जो सुर-नर-मुनि-ईप्सित अप्सरा से मुख मोड़ कर क्षुब्धउदर और नग्नतन चेतनाविहीन जीवशापित जन्तुओं को देख विकल हैं, "निराला" जो अमल-कोमलतनु तरुनी जुही से हट कर गुलाब से भी बढ़ कर कुकुरमुत्ता को सुबह का सूरज और शाम का चाँद समझने लगे हैं; "बच्चन" जो मधुशाला से बहुत दूर जा कर एकान्त-संगीत और विकल-विश्व का रुदन सुनते हैं—इन कवियों से हमारा आधुनिक साहित्य सुशोभित है। उपन्यास लिखनेवालों की भी संख्या कम नहीं है—प्रेमचन्द, जैनेन्द्रकुमार, भगवतीचरण वर्मा, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, वात्स्यायन, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, इलाचन्द्र जोशी, श्रीनाथसिंह, वृन्दावनलाल वर्मा, चतुरसेन शास्त्री, यशपाल और अन्य लेखकों ने मौलिक उपन्यास लिखकर साहित्य-सेवा की है। गुलेरी, सुदर्शन, कौशिक, गोविन्दवल्लभ पन्त, उग्र, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, गिरिजाकुमार घोष, अनादिधन बन्द्योपाध्याय, सद्गुरुशरण अवस्थी, उदयशंकर भट्ट की आख्यायिकाओं का भी अच्छा स्थान है। सेठ गोविन्ददास, रामकुमार वर्मा, गणेशप्रसाद द्विवेदी, वीरेश्वरसिंह, जगदीशचन्द्र माथुर और भुवनेश्वरप्रसाद के एकांकी नाटक उल्लेखनीय हैं। कुछ ऐतिहासिक और वैज्ञानिक विषयों पर भी अच्छी पुस्तकें हैं।

हिन्दी-साहित्य में एक विलक्षणता है जिस का उल्लेख आवश्यक है। हमारे ज्ञान में बहुत कम ऐसी भाषायें हैं जिन में महिलाओं ने इतनी रचना की हो जितनी हिन्दी में। धार्मिक काल में स्त्रियों ने साहित्यिक सुन्दर रचनायें कीं और रीतिकाल में भी कई उच्चकोटि की कवयित्री हो गई हैं। एक योग्य विद्वान् ने लिखा है कि रीतिकाल में स्त्रियों ने अपने अनुकूल विचारधारा तथा रचनाशैली पा कर स्तुत्य कार्य किया है। मीरा बाई, ताज, शेख, रसिक बिहारी, सहजो बाई, दया बाई, सुन्दर कुँवरि, चन्द्रकला, जुगल प्रिया, प्रतापबाला, रानी रघुवंशकुमारी इत्यादि की रचनायें बहुत ही अच्छी हैं और एक विशेष स्वर, विशेष रस, विशेष कोमलता उन में है। आधुनिक काल में तो लेखिकाओं की संख्या बहुत बढ़ी है। कोई हिन्दी-साहित्य के इतिहास को पूर्ण नहीं कह सकता है जिसमें श्री तोरनदेवी 'लली' श्री सुभद्राकुमारी चौहान, श्री महादेवी वर्मा, श्री तारा पांडेय, रामेश्वरीदेवी 'चकोरी' रामेश्वरीदेवी गोयल, श्री विद्यावती 'कोकिल' श्री रत्नकुमारीदेवी, श्री सावित्रीदेवी की कृति का विवरण न हो।

परन्तु फिर भी कुछ अंगों की पूर्त्ति आवश्यक है। वैज्ञानिक पुस्तकों की अब भी कमी है। मैं जानता हूँ कि पिछले पन्द्रह-बीस वर्ष में कई अच्छी पुस्तकें लिखी गई है। "विज्ञानपरिषद्" ने बहुत काम किया है, न केवल 'विज्ञान' पत्र के प्रकाशन से परन्तु कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना से भी। "हिन्दुस्तानी एकेडमी" ने भी कुछ विज्ञान-विषयक पुस्तकें प्रकाशित की हैं। प्रयाग-विश्वविद्यालय ने "गेहूँ और आलू की खेती," "वैज्ञानिक परिमान", "कार्बोनिक रसायन", "साधारण रसायन", "चुम्बक", "हानिकारक किरणें", "वायुमंडल" नामक सात पुस्तकों को प्रकाशित किया है। पर फिर भी अभी कई ऐसे विषय हैं जिन पर पुस्तकों की आवश्यकता है और विज्ञान तो इतना प्रगतिशील और उन्नतिशील है कि इस के प्रति अंग पर नई-नई पुस्तकों की रचना अभीष्ट है, जिन में नये आविष्कारों और खोजों का समावेश हो।

दूसरी कमी इतिहास और जीवन-चरित की है। इन मे भी काम हो रहा है, परन्तु इतिहास के विद्वान् अभी यथेष्ट संख्या में हिन्दी में अपने ग्रन्थ नहीं लिखते हैं। यह सत्य है कि अँगरेजी में लिखने से उन की ख्याति और देशों में होती है और उन का प्रचार अच्छा होता है। मै नहीं चाहता कि वे अँगरेज़ी में लिखना छोड़ दें, पर साथ ही हिन्दी में लिखना उन का कर्त्तव्य है। आजकल के प्रधान इतिहासज्ञों और ग्रन्थकारों में कई ऐसे हैं जो हिन्दी में लिख सकते हैं। डाक्टर रामप्रसाद त्रिपाठी, डाक्टर ईश्वरीप्रसाद, आचार्य्य सीताराम कोहली, डाक्टर वनारसीप्रसाद सक्सेना, डाक्टर रामशङ्कर त्रिपाठी, डाक्टर रमाशङ्कर अवस्थी, डाक्टर परमात्मा-शरण, डाक्टर सुकुमार बनर्जी, डाक्टर नन्दलाल चटर्जी, डाक्टर विश्वेश्वर-प्रसाद, डाक्टर बेनीप्रसाद इत्यादि की पुस्तकें यदि हिन्दी में भी प्रकाशित हो जायें तो कितना अच्छा हो ?

चरित्र-लेखन-कला में हमने अभी यथेष्ट उन्नति नहीं की है, तथापि सेठ घनश्यामदास बिड़ला का "बापू" और बनारसीदास जी चतुर्वेदी का "सत्यनारायण" और "भारतभक्त एंड्रूज" विशेष उल्लेखनीय हैं। परन्तु जो और पुस्तकें लिखी गई हैं उनमें अधिकांश बहुत कम ऐसी हैं जिन में लेखक ने स्वयं परिश्रम से, अन्वेषण करके, चरित्र लिखा हो। जीवन-चरित्र केवल वृत्तान्तों का संकलन और एकत्रीकरण नहीं है। जन्म, अध्ययन, विवाह, सन्तान और मृत्यु का वर्णन पर्याप्त नहीं है। लेखक का कर्त्तव्य है कि पाठकों के सामने एक सजीव मूर्त्ति उपस्थित करे। जिस प्रकार कुशल चित्रकार बाह्य रूप, वेशभूषा से अन्तर्हित आत्मा को देख और दिखा सकता है वैसे ही जीवन-चरित में—सफल-जीवन-चरित में—चरित्र-नायक से पूर्ण परिचय हो जाता है। ऐसी पुस्तकें हमारे यहाँ कम हैं।

समालोचना साहित्य का एक विशेष अंग है। खेद है कि हमारे समा-लोचकों में बहुत कम ने संस्कृत अथवा हिन्दी के काव्यविषयक ग्रन्थों

का अवलोकन किया है। साहित्य-दर्पण, काव्यादर्श, काव्यप्रकाश, काव्यालङ्कार, कविकुलकंठाभरण, ध्वन्यालोक, रसगङ्गाधर, काव्यप्रदीप, रामचन्द्रिका, रसराज, कवित्तरत्नाकर, कविप्रिया इत्यादि ग्रन्थों में हमारे देश के विद्वानों ने काव्य और नाटक के सिद्धांतों की ऐसी विलक्षण व्याख्या की है, गुण और दोष का ऐसा अच्छा विवरण किया है, भाव और रस की इतनी गूढ़ समालोचना की है कि आज भी, इतने वर्षों पर भी, हम उन को पढ़कर लाभ उठा सकते हैं। हमारी समालोचनायें किसी सिद्धान्त पर निर्भर नहीं रहती हैं। यह सत्य है कि "पुराणमित्येव न साधु सर्वम्" और पुराने सिद्धान्त केवल पुराने होने के कारण आदरणीय नहीं। तथापि जब हम देखते हैं कि प्रगतिशील यूरोप में अब भी एरिस्टोटेल, हौरेस, लौंजाइनिस इत्यादि के सूत्रों की कसौटी पर आधुनिक काव्य भी जाँचा जाता है, तो कोई कारण नहीं कि हम भी विश्वनाथ, मम्मट, राजशेखर, दंडिन, भामह, जगन्नाथ के मत का अनुसरण क्यों न करें और साहित्य की विवेचना उनके सिद्धान्तों के सहारे क्यों न करें कुछ समालोचक तो अँग्रेज़ी के द्वितीय और तृतीय श्रेणी के मर्मज्ञों का अनुसरण करते हैं, कुछ पंडितम्मन्य मनमाने सिद्धान्त यथावसर स्वयं गढ़ लेते हैं, और कुछ केवल वैयक्तिक पक्षपात अथवा द्वेष से प्रेरित होते हैं। विद्वानों को समालोचनकला की ओर ध्यान देना चाहिए।

एक और विषय है जिस की चर्चा मैं डरते हुए करता हूँ—वह यह कि हिन्दी के प्रधान ग्रन्थों का अनुवाद और भाषाओं में होना चाहिए। विदेश में संस्कृत का आदर विद्वानों ने तभी किया जब यूरोपीय भाषाओं में, इटालियन, फ्रेंच, जर्मन, अँगरेज़ी में संस्कृत पुस्तकों के अनुवाद प्रकाशित हुए। हिन्दी के प्रति और तो और हमारे देश में ही बड़ा भ्रम फैला हुआ है। मेरी एक वक्तृता ग्वालियर में हुई थी जिस में मैंने हिन्दी को राष्ट्रभाषा होने योग्य कहा था। इस पर देहली के अंजुमन तरक़्क़िये

उर्दू ने अक्टोबर १,१६३६ के "हमारी ज़बान" नामक पत्र में सम्पादकीय टिप्पणी यों की—

"हिन्दी, हिन्दुस्तानी और उर्दू की बहस ने इधर चन्द साल से जो रुख़ अख़्तियार किया है, अगर उसे देख कर प्रोफेसर झा के दिल मे यह उमङ्ग उठी है तो हमारे ख़्याल में उनकी यह उम्मीद बहुत ही मोहूम है, क्योंकि किसी जीती जागती जबान को मिटाना और उस की जगह पर एक मुर्दा जबान को, जिसका रिवाज उस की ज़िन्दगी में मुल्क के एक छोटे से हिस्से तक महदूद था, अस्सरे नौ रायज करना, महीनों और बरसों का भी नही, सदियों का काम है और दुनिया की रफ़्तार देखते हुए तो हिन्दुस्तान में अब इस की कोई तवक़्क़ो नहीं पाई जाती कि मुस्तक़बिल की सदियाँ महज खंडर ढोने मे सर्फ़ की जायेंगी।"

मै यह विवाद यहाँ नही करता कि इस आलोचना में झूठ कितना है, क्योंकि उर्दू के लिए तो वास्तव में मैंने यह कहा था कि उससे मेरा प्रेम है और मै हृदय से उसकी उन्नति चाहता हूँ। परन्तु कहने का आशय यह है कि इस देश के पढे-लिखे लोग भी हिन्दी को "मुर्दा ज़बान" कहने का साहस करते हैं और हिन्दी का वर्णन यों करते है—"वह भाषा जिस मे कभी कुछ मजहबी नज्में लिखी गई थीं।" इन अग्रेज़ों के लिए और अन्य देशवालों के लिए हमें चाहिए कि अपनी प्रधान पुस्तकों का अनुवाद प्रकाशित करायें। तुलसी के 'मानस' का तो अच्छा अँगरेजी अनुवाद हो चुका है, मीरा के कुछ पदों का भी अनुवाद हुआ है, मै बिहारी के तीन सौ दोहों का अनुवाद कर चुका हूँ और शीघ्र प्रकाशित कर दूँगा। कबीर के भी दो-तीन अनुवाद हो चुके है। परन्तु अन्य भाषा-भाषियों का कितना उपकार हो और हिन्दी के प्रति उन को कितनी श्रद्धा हो यदि सूरदास, नन्ददास, सेनापति, गिरिधरदास, रहीम, देव, भूषण-इत्यादि की अच्छी कविताओं के अनुवाद उन को उपलब्ध हो जायें!

हमारे पत्रों की संख्या कम नहीं है और इन में कई उच्च श्रेणी के हैं। "विश्वमित्र," "वेङ्कटेश्वर-समाचार," "वर्तमान," "आज," "भारत," "देशदूत," "आर्यावर्त," समाचारपत्रों से हिन्दी-भाषियों का उपकार हुआ है और हो रहा है "सरस्वती," "माधुरी," "सुधा," "विशाल भारत," "वीणा," "कर्मयोगी," "जीवन-साहित्य," "कमला" "साहित्यसन्देश," "नागिरीप्रचारिणी पत्रिका," "विचार," "बालक," "हिन्दी," "कल्याण," "सम्मेलनपत्रिका," "अभ्युदय," "हिन्दुस्तानी," "आरती," "विश्ववाणी," "दीपक," "सर्वोदय," "तरुण," "भारती," हिन्दुस्तान, प्रताप, कर्मवीर, नवशक्ति, हिन्दीमिलाप, विश्वबन्धु, योगी, नवभारत, स्वराज्य---इत्यादि पत्रिकायें हमारे साहित्य-निर्म्माण में बहुत काम कर रही है। हमारे सम्पादकों की सम्पादन कला प्रशंसनीय है। परन्तु इन में से अधिक पत्रों की आर्थिक दशा अच्छी नहीं है। हिन्दीप्रेमियों को चाहिए कि इन के ग्राहक बनें, और यह विशेष प्रयत्न होना चाहिए कि इन में विज्ञापन प्रकाशित हों। केवल ग्राहकों के अवलम्ब पर पत्र चलाना कठिन है। अन्य देश के अनुभव से यह स्पष्ट है कि विज्ञापनों से पत्रों को बहुत सहायता मिलती है। हम यह भी देखते हैं कि इन पत्रों में दो-चार ही ऐसे है जो लेखकों को लेखों का पारिश्रमिक देते हैं। यह उचित नहीं कि बिना कुछ पुरस्कार के लेख मँगवाये जायें। नवयुवक उदीयमान लेखकों की कौन कहे, लब्धप्रतिष्ठ लेखकों को भी लेखों के लिए कुछ नहीं मिलता है। पत्र के संचालक केवल छपाई का ख़र्चा देते हैं, थोड़े वेतन पर उन को सम्पादक मिल जाते हैं, और इन सम्पादकों का कर्तव्य होता है कि लेखों को मॅगवायें और वे लेखकों की उदारता और कृपा से लेख पा भी जाते हैं। इस स्थिति में परिवर्तन तभी होगा जब मुफ़्त लेख भेजने की प्रथा बन्द हो जाय और लेखक पारिश्रमिक देने पर सम्पादकों को बाध्य करें। आर्थिक संकट ग्रन्थकारों को भी है। परन्तु थोड़ा बहुत कष्ट तो और देशों के साहित्यिकों को भी सहना पड़ता

है। सरस्वती और लक्ष्मी का परस्पर द्वेष पुराना है। परन्तु हमें यह आशा करने का अधिकार है कि जिन पर लक्ष्मी की कृपा है वे हिन्दी-पुस्तकें खरीदेंगे और हिन्दी-पत्रों के ग्राहक बनेंगे।

हिन्दी और हिन्दुस्तानी

इधर कई वर्ष से साहित्य-क्षेत्र में एक अनावश्यक झगड़ा छिड़ा हुआ है। इस झगड़े से परस्पर मनोमालिन्य फैल गया है, वैमनस्य बढ़ गया है, वैयक्तिक आक्षेप होने लगे हैं। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में तो यह झगड़ा कभी उठना ही न चाहिए था। और जहाँ चाहे ये झगड़े हों, इस सम्मेलन में तो कोई भ्रम का स्थान ही नहीं है। सम्मेलन का उद्देश्य (ख) जो सन् १९११ ई० के द्वितीय अधिवेशन में निश्चय किया गया था, यह है—

> "देवनागरी लिपि का देश भर में प्रचार करना और देश-व्यापी व्यवहारों और कार्य्यों को सुलभ करने के लिए हिन्दी-भाषा को राष्ट्रभाषा बनाने का प्रयत्न करना।"

पश्चात् इसका संशोधन यों हुआ और अब तक यह इसी रूप में है—

> "देशव्यापी व्यवहारों और कार्यों को सुलभ करने के लिए राष्ट्रलिपि देवनागरी और राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार बढ़ाने का प्रयत्न करना।"

इन वाक्यों में झगड़े का कोई कारण नहीं है। फिर झगड़ा प्रारम्भ हुआ तो क्यों? सम्मेलन के चौबीसवें अधिवेशन में निम्नलिखित प्रस्ताव में इस उद्देश्य की यह टीका की गई—

> "इस सम्मेलन को मालूम हुआ है कि राष्ट्रभाषा के स्वरूप के सम्बन्ध में हिन्दुस्तान के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में कुछ ग़लतफ़हमी फैली हुई है और लोग उस के लिए अलग-अलग राय रखते हैं। इस-लिए यह सम्मेलन घोषणा करता है कि राष्ट्रभाषा की दृष्टि से

हिन्दी का वह स्वरूप मान्य समझा जाय जिसका हिन्दू-मुसलमान आदि सर्व धर्मों के ग्रामीण तथा नागरिक व्यवहार करते है, जिस मे सर्वसुलभ अरबी, फ़ारसी, अँगरेजी, संस्कृत-शब्दों या मुहाविरों का बहिष्कार न हो और जो नागरी या उर्दू लिपि मे लिखी जाती है।"

मै नही जानता कि इस टीका की क्या आवश्यकता थी। हिन्दी का स्वरूप सब को ज्ञात था। हिन्दी कोई नई भाषा गढ़ी नही जा रही थी। हिन्दी चन्दवरदाई के समय से स्वाभाविक उन्नति कर रही है, इस का रूप लेखकों-द्वारा निर्धारित हो चुका है। रामचरितमानस में अनेक फ़ारसी और अरबी के शब्द है। बिहारी की सतसई में बहुत-से फ़ारसी शब्दों का समावेश है। जो शब्द व्यवहार में स्वाभाविकतया आ जाते हैं उन के बहिष्कार का प्रयत्न हिन्दी मे नही हुआ था। गलतफ़हमी कहाँ से आ गई, किस के मन में समा गई ? यह तो हिन्दी के साथ अन्याय है कि फ़ारसी, अरबी और अँगरेजी के समान और इन सबके अन्त में, करुणा और दया के भाव से, संस्कृत को भी स्थान दिया जाय। हिन्दी का जन्म संस्कृत से है। जो कोई गम्भीर विषय पर हिन्दी में लिखेगा उस के लिए संस्कृत-शब्दों का प्रयोग अनिवार्य है। जो नये वैज्ञानिक शब्द निर्माण हिन्दी में होंगे वे संस्कृत से ही लिये जा सकते हैं। यदि हम आशा करते हैं कि हिन्दी अहिन्दी प्रान्तों में समझी जाय और व्यवहृत हो तो केवल वही हिन्दी सर्वग्राह्य होगी जो संस्कृतमयी होगी और जिस में उन प्रान्तवालों को कुछ परिचित शब्दों और अपनी संस्कृति की झलक मिलेगी। जैसा भाषा-विज्ञान के विद्वान् डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने कलकत्ते में कहा था—"भारत का कम से कम चार-पाँचवाँ हिस्सा संस्कृत शब्द समझ लेगा।" शरत् चट्टोपाध्याय के बंगाली उपन्यास और प्रान्तवाले नहीं समझ सकते क्योंकि वे ठेठ बँगला में लिखे गये हैं। परन्तु माइकेल मधुसूदन दत्त, बङ्किम चटर्जी और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के ग्रन्थ

यदि देवनागरी लिपि में पढ़ने को मिलें तो जो बँगला नहीं जानते हैं वे भी सुगमता से समझ लेंगे, क्योंकि उन की भाषा संस्कृतमयी है। महाराष्ट्र, गुजरात, बंगाल और दक्षिण-भारत में संस्कृत का प्राधान्य है और यदि संस्कृत-शब्दों का प्रचुर समावेश हो तो हिन्दी वहाँ अधिक लोग समझेंगे इस हिन्दी से भारतीय संस्कृति की परम्परा में व्याघात नहीं पहुँचेगा, और यह आशङ्का किसी को न होगी कि अपरिचित अभारतीय भाषा उन्हें सीखनी पड़ेगी।[1] पूना-अधिवेशनमें श्री न० चिं० केलकर ने सत्य कहा था––"मराठी और हिन्दी के बीच जो नाता पहले से है वह तो संस्कृत-भाषा के कारण ही है।" और फिर, "अभिजात हिन्दी तो बहुधा संस्कृतमय ही रहेगी, तो भी उर्दू, फ़ारसी, अरबी, अँगरेज़ी आदि आदि अन्य भाषाओं के शब्द सर्वथा त्याज्य नहीं हो सकते।" पूना-सम्मेलन के सभापति श्री सम्पूर्णानन्द जी से भी मैं पूर्णतया सहमत हूँ जब वे कहते हैं––"यह भी निश्चित है कि हमारी भाषा में अधिकतर स्वदेशी अर्थात् संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्द रहेंगे।" डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी ने मई सन् १९४१ में, कलकत्ते में डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद का

---

[1] सन् १९३६ ई० में बङ्गलोर में महात्मा गांधी ने कहा था––"You have all listened to a Kannada translation of Lady Raman's Hindi speech. You could not have noticed that the translation adopted unaltered quite a large number of words which Lady Raman had used in her Hindi Speech––words like *Prem, Premi, sangha, sabha, adhyaksha, pada, ananta, bhakti, svagata, adhyakshata, sammelan*. All these words are common to Hindi and Kannada." सत्य है, परन्तु ये सभी शब्द संस्कृत के हैं।

स्वागत करते हुए अपने भाषण में कहा—"भारत के चार-पंचमांश की ओर से—न केवल हिन्दुस्थान या उत्तर-भारत के हिन्दीवालों की तरफ़ से, बल्कि जिनमें हिन्दी-प्रचार करना मुनासिब समझा जाता है उन गुजरात, महाराष्ट्र, आन्ध्र, कर्णाट, केरल, तमिल-नाड, बङ्गाल, ओड़ीसा, आसाम और नेपाल की तरफ़ से हमें साफ़ यह कह देना चाहिए—संस्कृत को छोड़ कर हिन्दी राष्ट्र-भाषा नहीं हो सकती।" हिन्दी-भाषा का परम्परागत रूप यह है, इसी को हिन्दी कहते हैं। इस के सम्बन्ध में कोई ग़लतफ़हमी नहीं हो सकती है—

(१) कीर कुँवरितन निरखि दिखि, नख-सिख लौं यह रूप।
करता करी बनाय कै, यह पदमिनी सरूप॥
(चन्दवरदाई, संवत् १२०५)

(२) कबीर गर्व न कीजिये, काल गहे कर-केस।
ना जानौं कित मारि है, क्या घर क्या परदेस॥
(कबीर, १४५५ संवत्)

(३) सब कछु जीवत को व्योहार।
मात-पिता भाई सुत बान्धव, अरु पुन गृह की नार॥
तन तें प्राण होत जब न्यारे टेरत प्रेत पुकार।
आध घरी कोऊ नहिं राखै घर तें देत निकार॥
मृगतृस्ना ज्यों जग-रचना यह देखो हृदै विचार।
कहु नानक भज राम नाम नित जातें हो उद्धार॥
(गुरु नानक, संवत् १५५०)

(४) ऊधो! अखियाँ अति अनुरागी।
इक टक मग जोवति अरु रोवति भूलेहु पलक न लागी॥
(सूरदास, संवत् १५८०)

(५) मन रे परसि हरि के चरन।
सुभग सीतल कमल कोमल, त्रिविध ज्वाला हरन ॥
(मीरा, संवत् १५७५)

(६) सुनु जननी सोइ सुत बड़ भागी। जो पितु-मातु वचन अनुरागी ॥
तनय मातु-पितु पोषनि हारा। दुर्लभ जननि सकल संसारा ॥
धन्य जन्म जगती तल तासू। पितहि प्रमोद चरित सुनि जासू ॥
चारि पदारथ करतल ताके। प्रिय पितु मातु प्रान सम जाके ॥
(तुलसीदास, संवत् १६६०)

(७) अमी हलाहल मद भरे, श्वेत श्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत, जिहि चितवत इकबार ॥
(रहीम, संवत् १६७०)

(८) किधौं मुख कमल ये कमला की ज्योति होति,
किधौं चारु मुखचन्द्र चन्द्रिका चुराई है।
किधौं मृगलोचनि मरीचिका मरीचि,
कैधौं रूप की रुचिर रुचि सुचि सों दुराई है ॥
सौरभ की सोभा की दसन घन दामिनी की,
'केसव' चतुर चित ही की चतुराई है।
एरी गोरी भोरी तेरी थोरी थोरी हाँसी,
मेरी मोहन की मोहिनी की गिरा की गुराई है ॥
(केशवदास, संवत् १६५०.)

(९) तेरी गलीन में जा दिन तें निकसे मनमोहन गोधन गावत।
ये व्रज लोग सों कौन-सी बात चलाइ कै जो नहि नैन चलावत ॥
वे 'रसखानि' जो रीझिहैं नेकु तौ रीझि कै क्यों बनवारि रिझावत।
बावरी जो पै कलङ्क लग्यो तौ निसङ्क ह्वै क्यों नहीं अङ्क लगावत ॥
(रसखान, संवत् १६७०)

(१०) क्यों बसिये क्यों निबहिये, नीति नेह पुर नाहि।
लगा लगी लोयन करैं, नाहक मन बँधि जाहि ॥
(बिहारी, संवत् १७००)

(११) ऐसे जो हौ जानतो कि जैहै तू विषै के संग,
ए रे मन मेरे हाथ-पाँव तेरो तोरतो।
आजु लौं हौं कत नरनाहन की नाहीं सुनि,
नेह सों निहारि हारि वदन निहोरतो ॥
चलन न देतो "देव" चंचल अचल करि,
चाबुक चितावनीन मारि मुँह मोरतो।
भारी प्रेम-पाथरन गारौ दै गरे सों बाँधि,
राधावर विरुद के बारिधि में बोरतो ॥
(देव, संवत् १८००)

(१२) गुन के गाहक सहस नर,
बिनु गुन लहै न कोय।
जैसे कागा कोकिला,
शब्द सुनै सब कोय ॥
शब्द सुनै सब कोय,
कोकिला सबै सुहावन।
दोऊ को एक रंग,
काग सब भये अपावन ॥
कह "गिरिधर कविराय,"
सुनो हो ठाकुर मन के।
बिनु गुन लहै न कोय,
सहस नर गाहक गुन के ॥
(गिरिधर कविराय, संवत् १८००)

(१३) रे मन साहसी साहस राख सुसाहस सों सब जेर फिरैंगे।
त्यों "पदमाकर" या सुख में दुख त्यों दुख में सुख फेर फिरैंगे ।।
वैसे ही वेणु बजावत श्याम सुनाम हमारो हू टेर फिरैंगे।
एक दिना नहिं एक दिना कबहूँ फिर वे दिन फेर फिरैंगे ।।
(पद्माकर, संवत् १८८०)

(१४) कैसे भ्रमर चुम्बन करत।
नागकेसरि को सुअङ्कन रहसि रहसिहि भरत ।।
सिरस फूलन कान धरि वनयुवति मन को हरत।
देत शोभा परम सुन्दर सरस ऋतु लखि परत ।।
(लक्ष्मणसिंह, संवत् १६२०)

(१५) इन दुखियन को न सुख सपने हूँ मिल्यो,
यों ही सदा व्याकुल विकल अकुलायँगी।
प्यारे हरिचन्द जू की बीती जानि औध जो पै,
जैहैं प्रान तऊ ये तो साध न समायँगी ।।
देख्यो एक बारहू न नैन भरि तोहिं याते,
जौन जौन लोक जैहैं तही पछितायँगी।
बिना प्रान प्यारे भये दरस तिहारे हाय,
देखि लीजौ आँखें ये खुली ही रहि जायँगी ।।
(हरिश्चन्द्र)

(१६) पावस सा प्रिय ऋतु पाकर,
बन रही रसा थी सरसा।
जीवन प्रदान करता था,
बर-सुधा सुधाधर बरसा ।। (हरिऔध)

(१७) हे युग-द्रष्टा, हे युग-स्रष्टा,
पढ़ते कैसा यह मोक्ष-मंत्र ?
इस राजतंत्र के खँडहर में,
उगता अभिनव भारत स्वतंत्र ! (सोहनलाल द्विवेदी)

(१८) "न इतना धन है, न वह सहमति और सुसंगठन है जो धन का अभाव होने पर भी बड़े-बड़े कार्य्य सिद्ध कर देता है। ऐसा बाँध यदि बन जाय तो उस से इसी गाँव की रक्षा नहीं, आसपास के कई गाँवों का उद्धार हो सकता है।" (प्रेमचन्द)

(१९) "स्वामी जी एक सर्वत्यागी, वीतराग संन्यासी थे। प्राणिमात्र, सारा संसार उन की दृष्टि में समान था। उन का कोई अपना-पराया न था। फिर भी इस दुःखदलित जाति पर उन्हें ममता आ ही गई, योगारूढ़ मुमुक्षु दयानन्द आर्य-जाति के ममता-पाश में बँध गये। अपनी मुक्ति का उपाय छोड़ कर वे उसकी मुक्ति का, उस के उद्धार का उपाय ढूँढ़ने लगे।" (पद्मसिंह शर्म्मा)

(२०) "यदि हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाना है तो प्रचार-कार्य सर्व-व्यापी और सुसंगठित होना ही चाहिए। हमारे यहाँ शिक्षकों का अभाव है। सम्मेलन के केन्द्र में हिन्दी-शिक्षकों के लिए एक विद्यालय होना चाहिए, जिस में एक ओर तो हिन्दी प्रान्तवासी शिक्षक तैयार किये जायें और उन को जिस प्रान्त के लिए वे तैयार होना चाहें उस प्रान्त की भाषा सिखाई जाय और दूसरी ओर अन्य प्रान्तों के भी छात्रों को भरती करके उन्हें हिन्दी-शिक्षा दी जाय।" (महात्मा गाँधी)

इन भिन्न युगों के भिन्न लेखकों की भाषा के उदाहरण सुना कर आप का समय मैंने इसलिए लिया कि स्पष्ट हो जाय कि हिन्दी हम किसे कहते हैं और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन किसकी पुष्टि, उन्नति और प्रचार को अपना मुख्य उद्देश्य मानता है। जो कोई उर्दू जानता है और हिन्दी जानता है वह तो इस को नही मानेगा कि दोनों भाषायें एक हैं। उर्दू सुनिए—

"हवाये सैरे गुल आईनाबेमेहरी क़ातिल
कि अन्दाज़े बखूँ ग़लती दने बिस्मिल पसन्द आया।" (ग़ालिब)

या

"मुक़द्दम सैलाब से दिल क्या निशात आहङ्ग है,
ख़ानये आशिक़ मगर साज़े सदाये आब था ॥" (गालिब)

अथवा—

"जब यह ज़ाहिर है कि इन्सान की क़ुदरत में नही
कुश्तये जुहद कि आसूदये असियाँ होना।
जब कि माहौलो विरासत प है मुबनी हर फ़ैल
बस में तारीक ही होना है, न ताबाँ होना।
जब यह साबित है कि इन्सान के क़ब्ज़े में नही
बस्तये कुफ्र कि वाबस्तये ईमाँ होना।
जब कि यह जब्रे मशीयत है कि बे हुक्मे क़जा
"आदमी को भी मयस्सर नहीं इन्साँ होना।"
तो फिर आरज़ूये ख़िर्द सब से बड़ा है यह गुनाह
किसी इन्साँ का गुनाहों प पशीमाँ होना।"(जोश)

अथवा—

"शोले"तो दौराने सफ़र में ही पढ़ चुका था। इन सभी अफ़सानों में मुझे ताज़गी और शिगुफ्तगी और हक़ीक़त मिली जो बहुत कम नज़र आती है। लेहजा दिलकश और सलीस है। बर-हङ्गी से बढ़कर क्या हक़ीक़त होगी—मगर इस पर भी तो लिबास का पर्दा डालना ही पड़ता है। बक़िया अफ़साने मफ़हूम, मज़ाक़, वाक़ियत, तर्ज़ेबयान, हर एक एतबार से क़ाबिले सतायश।"
(प्रेमचन्द)

मैं इस झगड़े में नहीं पड़ना चाहता कि दोनों में से कौन-सी भाषा अच्छी है, परन्तु इतना तो अवश्य कहूँगा कि जो इन दोनों को एक समझता है उस में आत्म-प्रतारण की बड़ी क्षमता है। मैं यह स्पष्ट कर देना

चाहता हूँ कि उर्दू को मै बड़ी रुचि से पढ़ता हूँ; उर्दू के काव्य में मुझे बहुत आनन्द आता है; मीर, जौक़, अनीस, गालिब, मोमिन, दर्द, दाग़, अकबर, इक़बाल के पद्य मुझे प्रिय है। किन्तु इतना ही प्रेम मुझे अँगरेजी से है, प्रायः इस से भी अधिक। उर्दू से अधिक सुलभता से मैं बँगला समझता हूँ, यद्यपि उर्दू के अध्ययन में मैंने पर्याप्त परिश्रम किया है। उर्दू और हिन्दी एक नहीं हैं। दोनों के साहित्य के भिन्न-भिन्न आदर्श हैं, दोनों की विचार-धारा में कोई साम्य नही है, दोनों का वातावरण अलग हैं। केवल समान क्रिया-पद के कारण तो दोनों को एक नहीं समझ सकते। अस्वाभाविक एकत्रीकरण से दोनों की हानि है। दोनों को अपने-अपने निर्दिष्ट मार्ग पर चलने की, बढ़ने की, फ़लने-फूलने की स्वतंत्रता होनी चाहिए।

मेरा यह भी विश्वास है कि यदि कोई नई भाषा गढ़ी जाय तो उसका कोई भविष्य नहीं है। इस कृत्रिम प्रयास से हिन्दी और उर्दू का अहित होगा। ऐसी भाषा न तीतर है न बटेर। "हिन्दुस्तानी" के निर्माण का अभिप्राय क्या है ? हिन्दी पर और प्रान्तों से तो आघात पहुँचता ही है। काश्मीर की प्रारम्भिक शिक्षा का माध्यम "सादी उर्दू" है जो वहाँ के न मुसलमानों और न हिन्दुओं की मातृभाषा है। हैदराबाद में उर्दू उस्मानिया यूनिर्वासिटी की शिक्षा और परीक्षा का माध्यम है, इसलिए कि आधिपत्य निज़ाम का है। पंजाब की कचहरी की भाषा उर्दू है यद्यपि यहाँ के हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख सबकी मातृभाषा पंजाबी है। जिस प्रान्त में काशी, प्रयाग, मथुरा, हरद्वार, अयोध्या इत्यादि संस्कृत संस्कृति के केन्द्र हैं वहाँ भी लखनऊ की जबान को प्राधान्य देने की चेष्टा होती है। जहाँ मिथिला, गया, नालन्दा, पाटलिपुत्र जैसे प्राचीन सभ्यता और विद्या के स्थान हैं वहाँ भी यही प्रयास है कि संस्कृत-तनया हिन्दी अपने अक्षुण्ण रूप में उन्नति न करने पाये। एक उदाहरण और जिस से यह प्रमाणित हो जायगा कि "हिन्दुस्तानी" रूपक प्रयत्न बाह्य रूप में चाहे ऐक्य

का ध्येय रखता हो यथार्थ में यह हिन्दी का मूलच्छेद कर रहा है। सन् १९४० में मौलाना अबुलकलाम आज़ाद के भाषण के हिन्दी और उर्दू अनुवाद रामगढ़-कांग्रेस की स्वागतकारिणी समिति से प्रकाशित हुए। फ़ारसी लिपि के भाषण का उदाहरण यह है—

"हमने इन तजवीज़ों के ज़रिये एलान किया कि यूरप में जम्हूरियत और अनफ़रादी और क़ौमी आज़ादी के ख़िलाफ़ फ़ेसिज़्म और नातसिज़्म की जो इर्तिजाई तहरीकें रोज़-बरोज़ ताक़त पकड़ती जाती हैं—हिन्दुस्तान इन्हें दुनिया की तरक़्क़ी और अमन के लिए एक आलमगीर ख़तरा तसव्वुर करता है। और उसका दिल और दिमाग़ उन क़ौमों के साथ है जो जम्हूरियत और आज़ादी की हिफ़ाज़त में इन तहरीकों का मुक़ाबला कर रही हैं।"

देवनागरी-लिपि में ये ही वाक्य यों छपे हैं:—

"उन प्रस्तावों के **ज़रिये** हमने एलान किया कि यूरोप में डेमोक्रेसी यानी जनतंत्र के और व्यक्तिगत और राष्ट्रीय स्वाधीनता के विरुद्ध, **दुनिया** को पीछे की ओर घसीटनेवाली, फासीज़्म और नाज़ीइज़्म की जो **तहरीकें दिन बदिन ज़ोर** पकड़ती जा रही हैं हिन्दुस्तान उन्हें **दुनिया** की **तरक़्क़ी** और शान्ति के लिए एक विश्वव्यापी आपत्ति समझता है और उसका **दिल** और **दिमाग़** उन **क़ौमों** के साथ है जो क़ौमें जनतंत्र और **आज़ादी** के लिए इन **तहरीकों** का **मुक़ाबला** कर रही हैं।"

प्रचलित शब्द, चाहे कहीं का भी हो, हिन्दी में अपनाया जा सकता है—परन्तु 'एलान', 'तहरीकें', इत्यादि शब्द तो हिन्दीवाले नहीं जानते। जहाँ हमारे शब्द विद्यमान हैं—जैसे 'द्वारा', 'संसार', 'उन्नति', 'जाति', 'स्वतंत्रता', सामना'—वहाँ 'ज़रिये', 'दुनिया', 'तरक़्क़ी', 'क़ौम', 'आज़ादी', 'मुक़ाबला' क्यों घुसेड़े जा रहे हैं? उर्दू के भाषण में तो भाषा शुद्ध, स्वच्छ, परिमार्जित है, और हिन्दी भद्दी, बिगड़ी हुई,

अजनवी। "हिन्दुस्तानी" उर्दू का पर्यायवाची है इस का एक प्रमाण यह और है कि जब देहली रेडियो के अधिकारियों ने इस नई ज़बान पर वक्तृतायें दिलवाई तो ये सज्जन निमंत्रित किये गये——मौलाना अब्दुलहक़ (जो अंजुमन तरक़्क़िये उर्दू के कर्णधार हैं और हिन्दी के विपक्षी), डाक्टर ताराचन्द (जो देहली की संस्कृति में पले व उर्दू- और फ़ारसी के विद्वान् हैं), डाक्टर ज़ाकिर हुसेन (जिन की योग्यता उर्दू और फ़ारसी तक सीमित है), पंडित व्रजमोहन दत्तात्रेय कैफ़ी (जो उर्दू के कवि और विद्वान् हैं और अंजुमन तरक़्क़िये उर्दू के कर्मचारी हैं अथवा थे), मिस्टर आसफ़अली (जो उर्दू और फ़ारसी मात्र से अभिज्ञ हैं), और डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद (जो इस सम्मेलन के सभापति रह चुके हैं, पर जिन की 'हिन्दुस्तानी' विषयक नीति हिन्दीवालों को रुचि-कर नहीं है)। इन छः महापुरुषों की सूची बनाते समय निर्णायकों को कोई ऐसा सज्जन नहीं मिला जो हिन्दी और संस्कृत का विद्वान् हो। इस भारतवर्ष में एक डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद के अतिरिक्त और कोई यथार्थ भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधि नहीं मिला। मिलता कैसे ? मिलता क्यों ? मिलना अभीष्ट भी तो हो ? 'हिन्दुस्तानी' की आड़ में उर्दू का ही प्रचार तो करना था ? फिर भी आश्चर्य यह है कि उर्दू-पत्रों और पत्रिकाओं में यह कहा जाता है कि' हिन्दुस्तानी' उर्दू का सर्वनाश कर रही है।

'हिन्दुस्तानी के नाम पर कितना अनर्थ हो रहा है यह बताना आवश्यक है। बम्बई में P. E. N. संस्था कई वर्ष से स्थापित है। इस के सदस्य भारत के सभी भाषाओं के लेखक हैं। इस का स्वागत इन्दौर के सम्मेलन ने किया था। मुझे भी इसकी कार्य-समिति का सदस्य होने का सौभाग्य है। इस में हिन्दी का कोई भिन्न अङ्ग नहीं प्रकट होता है, श्री सुमित्रानन्दन पन्त और जनाव जोश मलीहाबादी की भाषा एक ही समझी जाती है। कुछ तरक़्क़ीपसन्द मुसन्नफ़ीन एक पत्र "नया अदब"

के नाम से प्रकाशित करते हैं । इस में सभी अन्य भाषाओं के साहित्य का विवरण रहता है, परन्तु हिन्दी और उर्दू के स्थान में, "हिन्दुस्तानी" साहित्य की चर्चा होती है—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और मौलवी अब्दुल-हक़ एक ही भाषा के साहित्यिक समझे जाते हैं । एक और पत्र प्रकाशित होता है—अँगरेज़ी में—जिसका नाम है "New Indian Literature." इसके सम्पादन के विषय में यह लिखा रहता है—"प्रधान भाषाओं के प्रतिनिधि लेखक-मंडल-द्वारा सम्पादित" ("Edited by a Board of representative writers in the major languages.") प्रधान भाषाओं में बँगला, मराठी और गुजराती है, परन्तु न हिन्दी है और न उर्दू । "हिन्दुस्तानी" है—भारत की यह प्रधान साहित्यिक भाषा समझी गई है ।

हिन्दुस्तानी के समर्थकों का दुराग्रह बहुत बढ़ गया है । प्रान्तीय भाषाओं के प्रति उन से बड़ा अन्याय हो रहा है । बिहार प्रान्त में एक शिक्षा-समिति बनाई गई थी जिसका कर्त्तव्य शिक्षा-प्रणाली का संशोधन करना था । इस विषय में ऐक्यमत था कि बच्चों की प्रारम्भिक शिक्षा उनकी मातृभाषा में ही हो । मेरा प्रस्ताव था कि मैथिल बच्चों की प्रारम्भिक शिक्षा मैथिली में दी जाय । मैथिली भाषा बहुत प्राचीन है, इस की लिपि देवनागरी से भिन्न है, इस का साहित्य बहुत मूल्यवान् है । परन्तु "हिन्दुस्तानी" के पक्षवालों को यह कब सह्य होता कि उन की नवीन ज़बान के अतिरिक्त और किसी भाषा का अस्तित्व रहे, और इस समिति का बहुमत से यह निश्चय हुआ कि मैथिल शिशु की शिक्षा उस की मातृभाषा में न हो कर इसी "मुश्तर्का ज़बान" में हो ।

परन्तु यह भी मैं कहना चाहता हूँ कि यदि उच्चकोटि के साहित्य में, गम्भीर भावों के प्रकट करने में, वैज्ञानिक और दार्शनिक विवरण में, संस्कृत के शब्दों का प्रचुरता से व्यवहार आवश्यक है, जहाँ तक जनता का सम्बन्ध है हमारी चेष्टा यह होनी चाहिए कि भाषा सरल

हो। जन-साधारण से हम यह आशा नही कर सकते कि उन में क्लिष्ट संस्कृत-शब्दों के समझने की योग्यता हो। समाचार-पत्रों की भाषा, लोकोक्तियों की भाषा और गीतों की भाषा तो ऐसी होनी चाहिए कि वह सद्यः हृदयङ्गम हो। ग्राम-साहित्य की भाषा ललित साहित्य की भाषा से भिन्न होगी। हिन्दी में ऐसे यथेष्ट शब्द है जिन के द्वारा साधारण विषयों पर लेख लिखे जायें और गान रचे जायें। पंडित रामनरेश जी त्रिपाठी ने बड़े परिश्रम और खोज से ग्राम्य-गीतों का संग्रह प्रकाशित करके यह सिद्ध कर दिया है कि हमारे देहातों में कितना सरस, कितना भावपूर्ण, कितना सरल साहित्य विद्यमान है। इस में कोई अलङ्कार, अनुप्रास, उपमा, अथवा अन्य गुणों के समावेश का कोई यत्न नहीं है। इन का गुण नैसर्गिक है, इन के शब्द हृदय से निकलते हैं——

(१) "काहे रे अमवा हरिअर ना जानौं कौने गुना।
ललना ना जानौं मलिया के सींचे त ना जानौं खेत गुना॥
ना यह मलिया के सींचे त ना यह खेत गुना।
ललना रिमिकि झिमिकि दैवा बरिसै त उनही के बूँद गुना॥"

(२) "अमवा महुलिया धन पेड़ जेही रे बीचे राह परी।
रामा, जेहि बीचे ठाढ़ी एक तिरिया मनै माँ वैराग भरी॥
पूछै लागे बाट के बटोहिया अकेली धन काहे रे खड़ी।
भैया, चले जाहू बाट के बटोहिया हमैं रे तुहैं काह परी॥"

(३) "धीरे बहु नदिया तैं धीरे बहु, मोरा पिया उतरइ दे पार।
काहेन की तोरी नैया रे, काहे की करुवारि।
कहाँ तोरा नैया खेवैया, के धन उतरइ पार॥
धरमै कइ मोरी नैया रे, सत कइ लगी करुवारि।
सैयाँ मोरा नैया खेवैया रे, हम धन उतरब पार॥"

यह पंडितों की भाषा, उच्च, गम्भीर साहित्य की भाषा नहीं है, परन्तु इस भाषा का भी व्यवहार होता रहना आवश्यक और हितकर

है। सूर, बिहारी, कबीर इत्यादि के पदों में बहुत से शब्द ऐसे हैं जो संस्कृत नहीं हैं, पर जिन का व्यवहार पहले भी था और अब भी है। बिहारी के बीस दोहों में ही ये शब्द हैं जिनसे काव्य का लालित्य घटने नहीं पाया—औंड, चिनगी, चुगै, बड़ा, डार, बुरा, खड़े, गँवार, धंधा, भीगा, बूड़ना, चढ़ना, दबाना, छोड़ना, औथर, बुझाना, ओछा, फीका।

राष्ट्रभाषा-प्रचारसमिति के सम्बन्ध में कुछ निवेदन करूँ। प्रचार का काम महात्मा जी के शब्दों में सम्मेलन का अविभाज्य अङ्ग है। सम्मेलन ने इन्दौर और पूना-अधिवेशन में अपनी नीति व्यक्त कर दी है। वर्धा की समिति कई वर्षों से महात्मा गाँधी के नेतृत्व में प्रशंसनीय कार्य कर रही है। यह समिति पूर्ववत् काम करती रहे और सम्मेलन के उद्देश्य की पूर्ति करती रहे यही उचित है। सम्मेलन की स्थायी समिति ने इस के काम में हस्तक्षेप नहीं किया है। परन्तु इसके निर्माण में और इस की नीति के अवलोकन में तो स्थायी समिति और सम्मेलन का हाथ रहना ही चाहिए। सम्मेलन इस विषय में तटस्थ नहीं रह सकता। उर्दू अथवा अँगरेज़ी अथवा और भाषा के प्रचार के लिए और संस्थायें स्थापित की जा सकती हैं, हिन्दी-प्रेमी और सम्मेलन के सदस्य भी इन संस्थाओं की सहायता कर सकते हैं, परन्तु सम्मेलन को तो राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार करना ही है और इस कार्य में राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति का पूर्ण सहयोग होगा, यह मेरी आशा है। मैं यह भी परामर्श देता हूँ कि सम्मेलन जो नीति और व्याख्या इन्दौर और पूना के अधिवेशन में नियत कर चुका है, उसी पर स्थिर रहे और इस नीति के अनुसरण के लिए पूर्ववत् तीन वर्ष के लिए राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति की नियुक्ति कर दे। यदि हिन्दी का ही दूसरा नाम "हिन्दुस्तानी" है तो मुझे इस शब्द के व्यवहार में कोई आपत्ति नहीं है और जैसा कि मैं कह चुका हूँ, उर्दू से मुझे प्रेम है। पंजाब और संयुक्त-प्रान्त में तो मैं चाहता हूँ कि बच्चा-बच्चा देवनागरी और फ़ारसी दोनों लिपि सीखे। परन्तु अहिन्दी प्रान्तवासियों

को यह भ्रम न होना चाहिए कि निम्नलिखित वाक्य हिन्दी के हैं—ये सब उर्दू हैं—

"इशरते क़तरा है दरिया में फ़ना हो जाना।"
"ज़ेबा नहीं सायल पै मगर क़हरो इताब।"
"दरियाये फ़ैज़े क़ुदरत तेरे लिये रवाँ है।"

श्री काका कालेलकर ने सत्य कहा है कि "सम्मेलन का राष्ट्रभाषा का अधिकृत नाम तो हिन्दी ही है और रहेगा।"

काश्मीर, पंजाब और हैदराबाद में हिन्दी

काश्मीर और पंजाब में हिन्दी की दशा शोचनीय है। काश्मीर में तो आशा है कि वहाँ की उदार सरकार हिन्दी को कालक्रम से वही स्थान शिक्षा-पद्धति में दे देगी जो उस ने उर्दू को दिया है। वहाँ की जनता की मातृभाषा तो काश्मीरी है, परन्तु जिस कारण से—संस्कृति की रक्षा के कारण—उर्दू को स्थान मिला है, उसी कारण से हिन्दी को भी स्थान मिलना न्यायसंगत है। परन्तु पंजाब में तो हिन्दी प्रेमियों को बहुत अड़चनें है। हिन्दी पठन-पाठन के लिए न केवल पूर्ण स्वतन्त्रता ही होनी चाहिए, इस की पुष्टि के लिए शिक्षा-विभाग को यथोचित उदारता और सहानुभूति दिखानी चाहिए। कचहरियों में देवनागरी लिपि में हिन्दी अर्ज़ियाँ ग्राह्य होनी चाहिएँ। इस विषय में संकीर्णता और दुराग्रह उचित नही है। हैदराबाद-राज्य में भी हिन्दी को बड़ी कठिनाइयाँ हो रही हैं, यद्यपि वहाँ की हिन्दी-प्रचार-सभा की परीक्षाओं में २५०० विद्यार्थी सम्मिलित हो चुके हैं और तीस-चालीस संस्थाओं-द्वारा हिन्दी की सेवा हो रही है। हिन्दी की गणना वहाँ की मुल्की ज़बानों मे नहीं है। हैदराबाद की सरकार से हिन्दी-प्रचार-सभा ने जो प्रार्थना की थी वह केवल इतनी कि हिन्दीभाषियों की प्रारम्भिक शिक्षा हिन्दी में हो, मध्यम वर्ग में हिन्दी ऐच्छिक रूप में पढ़ने की आज्ञा मिले,

स्कूल लीविङ्ग सर्टीफ़िकेट, और उस्मानिया मैट्रिक्युलेशन, में हिन्दी लेने की आज्ञा हो, और उस्मानिया यूनिवर्सिटी में हिन्दी-विभाग खोला जाय। यह भी प्रार्थना की गई थी कि यदि हिन्दी पढ़ाने का सरकारी स्कूलों में प्रबन्ध न हो सके, तो जिन स्कूलों में हो सकता है उन को आर्थिक सहायता दी जाय। हम हैदराबाद हिन्दी-सभा के इस वाक्य से पूर्णरूप से सहमत हैं—"इस का मुतालिबा इस मुल्क में बसनेवाले दो-तीन लाख हिन्दी बोलनेवालों के लिए इन की तालीमी ज़िन्दगी व मौत का सवाल है और कम्यूनिके में जिस सरकारी तौर से इस को ख़ारिज अज़ बहस करने की कोशिश की गई है वो इस वफ़ादार तबक़े के लिए बेहद बेचैनी का बायस है।" हिन्दी के प्रति और अन्य प्रकार की वहाँ उदासीनता है। इस वर्ष के सम्मेलन का अधिवेशन वहाँ न होने पाया। हम आशा करते हैं कि वर्तमान हैदराबाद कौन्सिल के सभापति, हमारे प्राचीन और प्रिय मित्र नवाब साहब छतारी हिन्दी-प्रचार-सभा की प्रार्थनाओं को स्वीकार कर अपनी न्यायपरायणता का प्रमाण देंगे।

उपसंहार

मैंने आप का बहुत समय लिया। सम्भव है मेरे कथन से कहीं-कहीं किसी सज्जन को कष्ट हुआ हो। मैं इस के लिए क्षमा चाहता हूँ। मैंने जो कुछ कहा है, हिन्दी प्रेम से ही प्रेरित हो कर कहा है। मुझे हिन्दी के उज्ज्वल भविष्य में विश्वास है। हिन्दी की उन्नति अवश्य होगी, इस का प्रचार समस्त देश में अवश्य होगा। जो कोई बाधा राह में आयेगी दूर हो जायेगी। हमें अपनी शक्ति पर भरोसा चाहिए, अपनी भाषा में श्रद्धा होनी चाहिए। इस प्रान्त में हमारे आर्य पूर्वजों ने वेदों के मंत्रों से प्रभावित हो कर भारतवर्ष की संस्कृति की रूपरेखा निर्धारित की थी। आज फिर हम इस प्रान्त में अपनी भाषा, अपनी संस्कृति, अपने साहित्य की उन्नति के लिए कटिबद्ध हो रहे हैं। बिना लड़े हुए, बिना द्वेष अथवा ईर्ष्या के,

सबसे सुहृद्भाव रखते हुए, हम निश्चय करते हैं कि जो कुछ भी हो हम हिन्दी-भाषा, हिन्दी-साहित्य और देवनागरी-लिपि का ह्रास नहीं होने देंगे ।

"सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु ।
सर्वः कामानवाप्नोतु सर्वस्सर्वत्र नन्दतु ।"

हिन्दी और हिन्दुस्तानी[1]

राष्ट्र-भाषा हिन्दी के उपासकवृन्द !

"सुहृद्संघ" के इस अधिवेशन में उपस्थित होने का और यहाँ के हिन्दी-प्रेमियों से परिचित होने का जो आप ने मुझे अवसर दिया है इस के लिए मैं हृदय से धन्यवाद देता हूँ। मुझे अपने प्रान्त में राष्ट्र-भाषा के प्रति यह उत्साह, यह प्रेम, यह अनवरत परिश्रम देख कर बड़ी प्रसन्नता है। हिन्दी-भाषा का अनुशीलन, हिन्दी-साहित्य की वृद्धि, देवनागरी-लिपि का प्रचार—इन के विषय में हम सब की धारणाये एक-सी है, इन उद्देश्यों के साधन में हम सब एक हो कर काम करते है, इन की सफलता के लिए हम कटिबद्ध है। कुछ मतभेद तो अनावश्यक विषयों पर स्वाभाविक है—"नैको मुनिर्यस्य मतन्न भिन्नम।" परन्तु जब हम दक्षिण-भारत, पंजाब, कश्मीर, महाराष्ट्र, बंगाल इत्यादि प्रान्तों में जाते है और वहाँ भी हिन्दी को राष्ट्रभाषा के उच्च स्थान पर पाते हैं, तो हमे सन्तोष होता है कि यह राष्ट्र-भाषा का प्रश्न स्वयं प्रतिदिन सुलझता जा रहा है। हिन्दी पढ़ने में, लिखने में, बोलने में, इन प्रान्तों के विचारशील पुरुष यथेष्ट परिश्रम कर रहे है। हमें आशा है कि शीघ्र ही हिन्दी निर्विवाद रूप से अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार के लिए सर्व ग्राह्य हो जायगी। साथ ही हम को यह भी जानना चाहिए कि और प्रान्तों में हिन्दी का आदर इसलिए होता है कि इस में वे अपनी मातृभाषा की झलक देख पाते है, उन को विश्वास है कि इस के व्यवहार करने से उन की चिरसंचित संस्कृति पर

---

[1] **सुहृद् संघ, मुजफ्फरपुर, के सन् १६४३ ई० (मार्च १४ और १५) के अधिवेशन में सभापति के आसन से दिया गया भाषण।**

आघात नही पहुँचेगा। जिस दिन उन का यह विश्वास उठ जायगा और उन को एक अपरिचित अभारतीय भाषा के शब्दों के दर्शन होंगे उसी दिन हिन्दी के प्रति उन्हें अश्रद्धा होगी और ऐसी हिन्दी का वे विरोध करेंगे। हमें तो समस्त देश को अपने साथ ले चलना है। गुजराती, कन्नड, मलयालम, तमिल, तैलगू, बँगला, उड़िया आसामी—इन सब भाषा-भाषियों के सहयोग और सहानुभूति की हमें आवश्यकता है। डर तो यह है कि केवल उर्दू-भाषियों को मिलाने की चेष्टा में कहीं हम सम्पूर्ण देश के सहयोग को न खो बैठें। यह प्रश्न साम्प्रदायिक नहीं है। बँगला के मुसलमानों की भाषा बंगाली है—क़ाज़ी नज़रुल इस्लाम और जसीमुद्दीन की बँगला कवितायें वैसी ही संस्कृतमयी भाषा में है जैसी रवीन्द्रनाथ की। दक्षिण-भारत के मुसलमानों की मातृभाषा उर्दू नहीं है। पंजाब के मुसलमानों की मातृभाषा पंजाबी है। काश्मीर के मुसलमानों की मातृभाषा काश्मीरी है। तो हिन्दी का वातावरण कलुषित करने का अभिप्राय केवल दिल्ली, संयुक्त-प्रान्त और बिहार के उर्दू-भाषा-भाषियों को प्रसन्न करना है। इन के सन्तोष का कितना अतुल मूल्य दिया जा रहा है! हिन्दी के प्रचलित शब्दों को छोड़ कर, समस्त देश में जो शब्द सहज व्यवहृत हैं उन का तिरस्कार कर, फ़ारसी और अरबी के अपरिचित शब्दों को हिन्दी में घुसेड़ कर, जो राष्ट्र-भाषा के स्वरूप को विकृत कर रहे है उन को अदूरदर्शी कहना अन्याय नहीं होगा। यह सिद्धान्त—जिसपर बिहार की "हिन्दुस्तानी कमीटी" काम कर रही है—कि संस्कृत और अरबी दोनों भाषाओं का राष्ट्रभाषा के निर्माण में एक ही स्थान होगा हम को कभी ग्राह्य नहीं है। हम प्रान्तीय भाषा-भाषियों को हिन्दी के ग्रहण करने में इसी कारण से आपत्ति नहीं है कि यह संस्कृततनया है। "हिन्दुस्तानी" यदि संस्कृत और अरबी दोनों के कोख से निकलेगी तो इस में हम अपनी मातृभाषा का प्रतिबिम्ब नहीं देख पायेंगे, इस में ऐसा रूप देखने को मिलेगा जो कुत्सित बीभत्स, और भयङ्कर होगा।

हिन्दी——संस्कृतमयी, सूर-तुलसीसेविता, भारतीयसंस्कृतिमंडिता——राष्ट्र-भाषा है और रहेगी। दिल्ली और लखनऊ में भले ही किसी और भाषा का आधिपत्य रहे, वहाँ "उर्दू-ए-मोअल्ला" भले ही फूले-फले, सरकारी भाषा भले ही वर्णसंकर हो कर रहे——जनता की, साहित्य की भाषा तो हिन्दी ही होगी। कुछ लोगों की धारणा है कि हिन्दी और उर्दू एक ही भाषा के दो नाम हैं। मैं नहीं जानता कि जिस किसी को दोनों भाषाओं का कुछ भी ज्ञान है वह ऐसी बात कैसे कह सकता है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने अबोहर के अधिवेशन में अपनी नीति स्पष्ट कर दी है। सम्मेलन की नीति यह है——

"हिन्दी शब्द के भीतर ऐतिहासिक दृष्टि से उर्दू का समावेश है, किन्तु उर्दू की साहित्यिक शैली, जो थोड़े-से आदमियों में सीमित है, हिन्दी से इस समय इतनी विभिन्न हो गई है कि उसकी पृथक् स्थिति सम्मेलन स्वीकार करता है और हिन्दी की शैली से भिन्न मानता है।

'हिन्दुस्थानी या 'हिन्दुस्तानी' शब्द का प्रयोग मुख्यकर इसलिए हुआ करता है कि वह देशी-शब्द-व्यवहार से प्रभावित हिन्दी-शैली तथा अरबी-फ़ारसी-शब्द व्यवहार से प्रभावित उर्दू-शैली दोनों का एक शब्द से एक समय में निर्देश करे। कांग्रेस, हिन्दुस्तानी एकेडेमी और कुछ गवर्नमेंट विभागों में इसी अर्थ में इस का प्रयोग हुआ है और होता है। कुछ लोग इस शब्द का प्रयोग उस प्रकार की भाषा के लिए भी करते हैं जिस में हिन्दी और उर्दू-शैलियों का मिश्रण हो।

"इस प्रकार निश्चित अर्थों में उर्दू और हिन्दुस्तानी शब्दों का प्रचलन है। इस विषय में सम्मेलन का कोई विरोध नहीं है। किन्तु सम्मेलन साहित्यिक और राष्ट्रीय दोनों दृष्टियों से, अपने और अपनी समितियों के काम में हिन्दी-शैली का और

उसके लिए हिन्दी-शब्द का ही व्यवहार और प्रचार करता है ।"

इस प्रस्ताव की भाषा इतनी स्पष्ट है कि भ्रम का कोई स्थान नही है । सम्मेलन की समितियों और सम्बद्ध संस्थाओं का इस से पथ-प्रदर्शन होता है । इस प्रस्ताव को उपस्थित किया किसी देश-द्रोही पुरानी चाल के पण्डित ने नहीं, बल्कि कांग्रेस के एक प्रमुख नेता, संयुक्त-प्रान्तीय असेम्बली के स्पीकर, हिन्दी के अनन्य भक्त, माननीय श्री पुरुषोत्तमदास जी टंडन ने । इस का अनुमोदन किया एक दूसरे कांग्रेसी नेता, संयुक्त प्रान्त के भूतपूर्व शिक्षामंत्री, श्री सम्पूर्णानन्द जी ने । इसके समर्थकों में—पण्डित माखन लाल जी चतुर्वेदी, पूना के श्री ग० र० वैशम्पायन जी, इन्दौर की श्रीमती कमलाबाई जी किबे, काश्मीर के श्री अमरनाथ जी काक,—भिन्न-भिन्न प्रान्त के उन्नतिशील विचारवान् प्रतिनिधि । यह कहना निर्मूल है कि "हिन्दुस्तानी" के पक्ष में न रहना किसी राष्ट्रदल का विरोध करना है । यह प्रश्न साहित्य का है, भाषा का है, संस्कृति की रक्षा का है, राष्ट्रनीति का नहीं है । महात्मा गांधी ने सम्मेलन के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इतना ठोस काम किया है कि उन की सम्मति आदरणीय है । परंतु महात्मा जी तो सत्य को सब से बड़ा धर्म मानते हैं, सत्य का अन्वेषण सब से प्रधान कर्त्तव्य समझते हैं । इसलिए यदि मैं कुछ उन के मत के प्रतिकूल कहने की धृष्टता करूँ तो मेरी धृष्टता क्षम्य है । अभी कुछ दिन हुए "हरिजन" में एक लेख महात्मा जी का प्रकाशित हुआ है । इस लेख में आप पूछते हैं—

> "क्या उर्दू उसी हिन्दी का नाम नहीं, जो फ़ारसी-लिपि में लिखी जाती है और संस्कृत से नये शब्द लेने के बजाय फ़ारसी या अरबी से नये शब्द लेने की तबीयत रखती है ?"

इसका उत्तर है—"नहीं ।" नये शब्दों का लिया जाना प्रश्न नहीं है । सत्य तो यह है कि उर्दू का समस्त वातावरण अभारतीय है । उर्दू-कविता में जिन शब्दों का प्रयोग होता है वे विदेशी हैं । उर्दू-कवि

अपनी उपमाओं को ढूँढ़ने फ़ारस और अरब जाता है—यूसुफ़ और जुलेखा, शीरीं और फ़रहाद, लैला और मजनूँ, नौशेरवाँ, हातिम, मूसा—इन्हीं के उदाहरण उस को सूझते हैं, भूल कर भी नल-दमयन्ती, सावित्री-सत्यवान, शकुन्तला-दुष्यन्त, भीम, युधिष्ठिर, अशोक के नाम याद नहीं आते हैं। हिन्दू कवि भी उर्दू लिखते समय बुतों को गालियाँ देता है, अपने को काफ़िर कहता है, मुसलमान बनने की आकांक्षा रखता है, मन्सूर और अनलहक़ की दोहाई देता है। पण्डित ब्रजनारायण 'चकबस्त' काश्मीरी ब्राह्मण थे, सज्जन थे, सहृदय थे, देशभक्त थे। भगवान् रामचन्द्र के वनप्रस्थान का वर्णन करते हुए कहते हैं—

"रुख़सत हुआ वह बाप से ले कर ख़ुदा का नाम।"

यदि केवल नये शब्दों का प्रश्न होता तो "बिदा" के लिए नये शब्द का प्रयोजन क्या था? "ईश्वर" अथवा "भगवान्" के स्थान में "ख़ुदा" की क्या आवश्यकता थी? नहीं, नहीं, उर्दू को उर्दू के लिखनेवालों ने एक नई भाषा बना दी है। इस में हिन्दुस्तान की भाषा के क्रियापद तो हैं, सर्वनाम और अव्यय यहाँ के है, परन्तु संज्ञा और विशेषण प्राय: सभी फ़ारसी अथवा अरबी के हैं। उर्दू यहाँ की भाषाओं से कितनी पृथक् है इस का अनुमान इस से होगा कि उर्दू के प्रसिद्ध कोष 'फ़र्हङ्गे आसफ़िया" में ७,००० अरबी के शब्द हैं, ६,५०० फ़ारसी के और केवल ५०० संस्कृत के। इस से नये शब्दों के लेने का क्या प्रश्न है? महात्माजी फिर पूछते हैं—"क्या उर्दू हिन्दी से उतनी ही भिन्न है जितनी बंगाली, मराठी?" उत्तर है! "उतनी ही नहीं, उस से कहीं अधिक।" ये हैं उर्दू के उदाहरण :—

(१) "इस में कोई कलाम नहीं कि इक़बाल बहुत बलन्द-पाया शायर अजीमुल्मर्तबात मुफ़क्किर थे। बाज़ हज़रात को शायद इस बात के तस्लीम करने में पसोपेश हो कि वह उलूमे-रूहानी के मुअल्लम और अस्रारे बातिनी के हाकिम भी थे। और उन्हें रूहा-

नियत की गहराइयाँ मालूम और रमूजे-मरूफ़ी से बखूबी आगाही थी।" (इससे इस देश के केवल ये शब्द हैं—"इस, में, कोई, नहीं, कि, बहुत. थे, को, इस, बात, के, करने, में, हो, कि, वह, के, और, के, भी, थे, और उन्हें, की, और, से, थी—और सब फ़ारसी अथवा अरबी के।)

(२) मेरा सीना है मशरिक़ आफ़ताबे दाग़े हिज्राँ का,
तु लूये सुबहे महशर चाक है मेरे गरेबाँ का।

(३) बरख्ये शशजहत दर आईना बाज़।
याँ इम्तियाज़े नाकिसो कामिल नहीं रहा॥

(४) वजूद अफ़ाद का मजाज़ी है हस्तिये क़ौम है हक़ीक़ी,
फ़िदा हो मिल्लत प' यानी, आतिश ज़ने तिलिस्मे मजाज़ हो जा।"

इस भाषा से हिन्दी का क्या सम्बन्ध है? कहाँ सामीप्य है? कैसी समता है? मैं इसे मानता हूँ कि इस में माधुर्य्य है, रस है, काव्य-चमत्कार है। पर यह तो मैं नहीं मान सकता कि यह हिन्दी है।

एक उदाहरण और सुनिए—इस नयी गढ़न्त "हिन्दुस्तानी"का। बिहार-सरकार से एक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित होता है, जिस का नाम "रोशनी" है। इस में फ़ारसी और देवनागरी-लिपि में एक ही बात लिखी जाती है। इस के एक अङ्क में देवनागरी लिपि में यह छैपा था :—

"खुदा स्कूल मज़कूर की इन्सपेक्ट्रेस साहिबा व जामिये अफ़सरान व डाक्टर महमूद साहिब का दोनों जहाँ में रुतबा बलन्द करे जिन्होंने मेरे मुहल्ले में भी नाइट-स्कूल क़ायम करके ग़रीबों को रात को फ़ुर्सत के मौक़े में जामये हैवानियत उतार कर जामये इन्सानियत से आरास्ता होने का मौक़ा बख्शा।"

हम बिना किसी डर से घोषित करते हैं कि यह हमारी भाषा नहीं है, हमें यह ग्राह्य नहीं है।

"सुहृद्संघ" मुज़फ़्फ़रपुर में काम कर रहा है, इसलिए इस के कुछ विशेष उद्देश्य होने चाहिए। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने अपने दिल्ली-अधिवेशन में निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकार किया था :—

"राष्ट्र-भाषा हिन्दी की विस्तृत अभिवृद्धि और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के कार्यों और उद्देश्यों का सुसंगठित प्रचार करने की दृष्टि से यह सम्मेलन आवश्यक समझता है कि प्रत्येक प्रान्त में प्रान्तीय साहित्य-सम्मेलन और महत्वपूर्ण बोलियों के क्षेत्र में मंडल-सभाएँ स्थापित की जायँ, जो हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन से सम्बद्ध हो कर व्यवस्थित रीति से निरन्तर कार्य करती रहें।"

यह प्रस्ताव बड़े महत्त्व का था। सम्मेलन का क्षेत्र-विभाजन आवश्यक है। सम्मेलन तो प्रान्तीय संस्थाओं की सहायता से ही अपना काम कर सकता है। इसी कारण से सम्मेलन की स्थायी समिति की बैठक अगले महीने में उज्जैन में होने जा रही है और सम्भव है कि इस की बैठकें इस वर्ष पूना और पंजाब में भी हों। मै तो चाहता हूँ कि सम्मेलन के अधिकारी समस्त हिन्दी-प्रान्तों में जा कर हिन्दी-प्रेमियों से मिल कर सम्मेलन के कार्य का संगठन करें। जनवरी में मै ओरछे गया था और बुन्देलखंड-साहित्य-मंडल के सदस्यों से मिला। वहाँ बहुत अच्छा काम हो रहा है। पंडित बनारसीदास जी चतुर्वेदी के नेतृत्व में और ओरछा-नरेश की उदारता से बुन्देलखंड के साहित्य-सेवी बड़े लगन से साहित्य-सेवा कर रहे हैं। ग्राम्य गीतों और कहावतों का बहुत बड़ा संग्रह तैयार किया जा रहा है। इसी प्रकार व्रज-साहित्य-मंडल भी अच्छा काम कर रहा है। मुज़फ़्फ़रपुर के सुहृद्संघ को चाहिए कि अपने प्रान्त के साहित्य की खोज करे। ग्राम्य गीतों की संख्या यहाँ बहुत है। इन सरल पदों में देश की यथार्थ दशा वर्णित है, यहाँ की संस्कृति इन में संरक्षित है। सभ्यता तो वाह्य आडम्बर है, कल तुर्कों की थी, आज अँगरेज़ों की है। भार-तीयता हमारे गाँव के रहने वालों में है, जो शहरों के क्षणभङ्गुर आभू-

षणों से अपने स्वाभाविक रूप को छिपा नही चुके है, जिन में युगों से वेदना सहन करने की शक्ति है, जो सुख-दुःख में, हर्ष-विषाद में, जगत्स्रष्टा को भूलते नही हे, जो वर्षा के आगमन से प्रसन्न होते है, जो खेतों में, जाड़े-गर्मी में, प्रकृतिदेवी के निकट, अपना समय बिताते है। इन गानो में हम मनुष्य के जीवन के प्रत्येक दृश्य को देखते है, कन्या के ससुराल चले जाने पर माता के करुण स्वर सुनते है, पुत्र के जन्म पर माता-पिता के आनन्द की ध्वनि पाते हे, खेतो के बह जाने पर हताश किसान के क्रन्दन, व्याह के अवसर पर बधाई के गान, गृहिणी के विरह की व्यथा, सन्तान की असामयिक मृत्यु पर मूक वेदना—अर्थात् मानविक जीवन की नैसर्गिक कविता का रसास्वादन करते है। इन गानों का संग्रह बहुत आवश्यक है। ये लुप्तप्राय हो रहे है। गज़लों और सिनेमा के गानों का इतना प्रभाव बढ़ रहा है कि बहुत शीघ्र इन के लोप हो जाने की आशङ्का है। इस साहित्यिक धन को नष्ट न होने देना चाहिए। कहावतों और पहेलियों का भी सग्रह आवश्यक हे। भोजपुरी कहावतो का संग्रह प्रयाग विश्व-विद्यालय के श्री उदयनारायण तिवारी ने बड़े परिश्रम से तैयार किया है। मैथिली कहावतों का संग्रह श्री ऋद्धिनाथ झा कर रहे हैं। सुहृद्संघ-द्वारा भी यह काम होना चाहिए। आप मुजफ़्फ़रपुर का भौगोलिक वर्णन भी तैयार कर सकते हैं। देहात की कहानियों का संग्रह भी बड़ा आवश्यक काम है। यहाँ की पुरातत्त्व-सामग्री भी आप इकट्ठा कर सकते हैं।

कार्यक्षेत्र तो असीम है। कार्यकर्ताओं की आवश्यकता है। आप ने अब तक बड़े परिश्रम से अपने उद्देश्यों की पूर्ति में उद्यम किया है। आप का उत्साह सराहनीय है। साहित्यिक अन्वेषण में तो कुछ ही लोगों की रुचि होगी। आप में से कुछ साहित्य-रचना भी करते हैं, यह जान कर प्रसन्नता हुई है। मै नवयुवक लेखकों से केवल यही प्रार्थना करूँगा कि वे अपनी संस्कृति को न भूलें। आज-कल एक नया शब्द सुनने में आता है— "प्रगतिशील।" एक संस्था उत्पन्न हुई है जिस का नाम है "तरक़्क़ीपसन्द

मुसन्निफ़ीन।" प्रगति तो प्रकृति का नियम है ही। मनुष्य तो आगे बढ़ता ही रहता है। साहित्य भी अपने युगविशेष का प्रतिबिम्ब होता है। परन्तु भय यह है कि कहीं साहित्य एक दल की वस्तु बन कर न रह जाय, एक सम्प्रदाय-विशेष के सिद्धान्तों के प्रसार में ही न उलझ जाय। साहित्य से समस्त मानव-जाति की सेवा होनी चाहिए, समस्त समाज का हित होना चाहिए। इस समाज में धनी भी हैं और दरिद्र भी, पूँजीपति भी हैं और श्रमजीवी भी। साहित्य में सभी भावों का समावेश होना चाहिए। उदारता से, संकीर्णता से नहीं सौन्दर्य का भी और कौरूप्य का भी, आह्लाद का भी और विषाद का भी, आशा का भी और नैराश्य का भी। वह साहित्य सत्य नहीं है, सत् नहीं है जिस में जीवन के अन्धकारमय स्थानों का ही वर्णन हो, वीभत्सरस का ही ग्रहण हो, शोक-सन्तप्त प्राणियों की ही चर्चा हो। संसार में केवल वेदना नहीं है, मोद भी है, केवल क्रन्दन नहीं है, हास भी है। और फिर नवयुवक लेखक के लिए—जिस का जीवन सुख-स्वप्नों का है, जिस में उल्लास है, आशा है, उमंग है—जो संसार की बाधाओं को तुच्छ समझता है, नभ के नक्षत्रों से बातें कर सकता है—ऐसे लेखक के लिए तो और भी आवश्यक है कि जगत् की विपत्तियों को अपने से दूर रखे। सम्भव है यथा-समय उसे उनका सामना करना पड़े, सम्भव है उनसे और जटिल बन्धनों में फँस जाना पड़े, परन्तु यह विद्वत्ता नहीं है, यह अपने स्वभाव और अपनी प्रकृति के प्रति अन्याय है, कि इन विपत्तियों के आने से पूर्व ही वह साहस खो बैठे, अपनी हृत्तन्त्री को बन्द कर दे, जीवन के मधुर स्वरों को अपने पास न आने दे। वही साहित्य जीवित रह सकता है जो सत्य, सुन्दर और शिव है। सत्य की दृष्टि में संसार सुख-दु:ख-मिश्रित है। सौन्दर्य रूप में, वाक्य में, क्रिया में निहित है। मनुष्य मात्र का जिस में से कल्याण हो वही शिव है।

'हिन्दुस्तानी'

इधर कुछ महीनों से 'हिन्दुस्तानी' की काफ़ी चर्चा रही है। हिन्दुस्तानी एकेडेमी के प्रमुख सदस्यों ने इस प्रश्न की ओर लोगों का ध्यान बहुत अधिक आकर्षित किया है और लोग ऐसा समझने लगे हैं कि हिन्दुस्तानी एकेडेमी का उद्देश्य ऐसी भाषा की सृष्टि करना है जो हिन्दी और उर्दू को एक करके हिन्दू-मुसलमानों में एकता करा देगी—जिस एकता की बहुत दिन से आवश्यकता थी। मैं व्यक्तिगत रूप से इस वाद-विवाद से अपने को अलाहदा रखता चला आया हूँ और उस का कारण भी बहुत उचित और मान्य है—मैंने हिन्दी और उर्दू, दोनों भाषाओं को पढ़ा है, मुझे दोनों के साहित्य से प्रेम है और यद्यपि मैं जानता हूँ कि दोनों ही भाषाओं का जन्म इसी देश में हुआ है किन्तु फिर भी दोनों का विकास दो भिन्न-भिन्न दिशाओं में हुआ है। दोनों भाषाओं के गुण-दोषों की तुलना करना निरर्थक और बच्चों जैसी बात है। दोनों की अपनी-अपनी परम्पराएँ और अपने-अपने आदर्श हैं जिन को त्याग देने से उसकी अवनति ही होगी। दोनों भाषाओं के पास अपना-अपना सम्पन्न साहित्य है, विशेषतः अपने कविता-साहित्य में तो उनके पास ऐसी निधियाँ हैं जो किसी भी भाषा के लिए गौरव की वस्तु हो सकती हैं। दोनों भाषाओं के विकास के साथ उन की भिन्न-भिन्न विशेषताएँ पैदा हो गई हैं जो हमारी राष्ट्रीय संस्कृति का स्थायी अंग बन गई हैं। एक भाषा के सृजन के उद्देश्य से हिन्दुस्तानी के अभिभावकों को बहुत सी बाधाओं का सामना करना पड़ेगा, जिन में से कुछ दुर्जेय भी होंगी। लिपि की समस्या ही सब से बड़ी समस्या नहीं है—यद्यपि बड़ी समस्याओं में से यह भी एक है। समस्या वास्तव में यह है कि दोनों भाषाओं की पृथक-पृथक साहित्यिक

विशेषताएँ हैं और दोनों की संस्कृतियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं, साथ ही दोनों के अपने-अपने प्रेमी और अभिभावक हैं।

उर्दू—शहरों की भाषा है

उर्दू लगभग एक शताब्दि से उत्तरी भारत में शहरों की भाषा रही है, जहाँ मुसलिम संस्कृति के केन्द्र होने के कारण मुसलिम संस्कृति का अधिक प्रभाव रहा है। उस संस्कृति के प्रभुत्व के कारण उर्दू शाही दरबारों की भाषा बन गई और जिन लोगों का दरबार अथवा शासन से सम्पर्क रहा उन्होंने इस भाषा को अपना लिया। उर्दू ने अपनी लिपि, अपने छन्दों, अपने ढाँचे और अपनी अभिव्यक्ति के लिए उस साहित्य की शरण ली जो फ़ारिस से आया था। भारतीय चीज़ों से उर्दू साहित्य ने प्रेरणा नहीं ली। उर्दू भाषा का प्रयोग दिल्ली, आगरा, मेरठ और लखनऊ के शहरियों-द्वारा होने लगा। लेकिन ये शहरी लोग भी जब कुछ दिन के लिए देहात जाते थे तो उन की भाषा उर्दू की जगह प्रान्तीय देहाती भाषा ही हो जाती थी। मुझे विश्वास है मैं उर्दू के साथ किसी प्रकार का अन्याय नहीं कर रहा हूँ, यदि मैं यह कहूँ कि उर्दू का गाँवों की जनता से न कोई सम्बन्ध-सरोकार था और न उस ने उन के साथ सम्पर्क रखने की कोई कोशिश ही की थी। 'मरसियों' का सम्बन्ध मुसलमानों के इतिहास से था; 'ग़ज़ल' के द्वारा यद्यपि हमेशा से लोगों का मनोरंजन होता रहा है—और उस का कारण है उस का विषय, जिस से सभी को सदैव से दिलचस्पी रही है—किन्तु उस ने फ़ारसी की ही रूढ़ियों और परिपाटियों को क़ायम रक्खा। 'मसनवी' भी वास्तविक जीवन के छोरों को ही छूने में सफल हो सकी थी। इस प्रकार उर्दू साहित्य का जनता से कोई सम्पर्क नहीं रहा। युक्त प्रान्त के बाहर तो उर्दू मुसलमानों की भी भाषा नहीं रही। बंगाल के मुसलमानों की भाषा बँगला ही थी और अब भी है, गुजरात में मुसलमान गुजराती ही बोलते हैं और पंजाब के

मुसलमानों की भाषा भी पंजाबी है। यह कहना ग़लत न होगा कि २५ वर्ष पहले तक युक्तप्रान्त से बाहर के प्रान्तों के अधिक मुसलमान उर्दू की लिपि से भी अनभिज्ञ थे। बंगाल के मुसलमानों ने बंगाल साहित्य को अनेक निधियाँ दी हैं और हिन्दी में भी बहुत से सत्कवि मुसलमानों में पैदा हुए हैं। लेकिन दरबार की भाषा उर्दू ही थी और वकील तथा सरकारी कर्मचारी उर्दू में ही योग्यता प्राप्त करते थे, ठीक वैसे ही जैसे राजनीतिक सुविधाओं के ख़याल से आजकल अँगरेज़ी को महत्व दिया जाता है।

जनता की भाषा—हिन्दी

हिन्दी का कई शताब्दियों का अपना अनवरुद्ध इतिहास है। हिन्दी कविता-साहित्य को—तुलसीदास और सूरदास की अमर निधियों को भी—गाँवों की जनता पढ़ती और समझती है। उत्तरी भारत में शायद ही कोई ऐसा गाँव हो जहाँ शाम को पेड़ के नीचे अथवा अलाव के सहारे आप ग्रामीणों की टोली में हिन्दी कविता का पाठ होता हुआ न देखें। उन में से एक आदमी जो दूसरों से अधिक पढ़ा लिखा होता है छन्दों को ऊँचे स्वर से पढ़ता है, बाकी लोग उस के साथ योग देते जाते हैं और बीच-बीच में छन्दों का अर्थ समझने के लिए नियमित समय पर रुकते जाते हैं जब कि उन्हें छन्द का अर्थ दृष्टान्तों के सहारे समझाया जाता है—जैसे कोई अनुभवी गुरु अपने शिष्यों के सामने विवेचना करता है। प्रचलित कहावतें और मुहावरे जिन्हें आप देहातियों से सुनते हैं, सभी हिन्दी में होते हैं। महाकाव्य, लक्षण ग्रन्थ, पिंगल शास्त्र, सन्तों के जीवन चरित और नीति काव्य—हिन्दी इन चीजों के बाहुल्य से सम्पन्न है। हिन्दी की एक और भी विशेषता है, उस का उद्गम शुद्ध संस्कृत से है, जिस के कारण हिन्दी का सम्बन्ध बँगला, मराठी, गुजराती, तमिल, मलयालम, तैलगू, कर्नाटकी तथा भारतवर्ष की अन्य मुख्य भाषाओं से भी है। दक्षिण भारत की भाषाएँ यद्यपि जन्म से द्रविड़ हैं, किन्तु संस्कृत का उन पर

इतना अधिक प्रभाव है और उन के शब्द-कोष में संस्कृत के इतने सहस्र शब्द हैं कि मातृभाषा से भिन्नता होने पर भी दक्षिण भारत के निवासियों को हिन्दी समझने में अधिक कठिनाई नहीं मालूम होती। मद्रास प्रान्त और मैसूर में हिन्दी-प्रचार के कार्य की आशातीत सफलता का कारण केवल यही नहीं कि हिन्दी सीखने में सुगम है बल्कि यह भी है कि भारतवर्ष के अधिकांश भागों में समझी जा सकने वाली भाषा, हिन्दी को सीखना उपादेयता की दृष्टि से भी अच्छा है। दोष रहित निस्सन्देह हिन्दी भी नहीं है। देहात की भाषा होने के कारण हिन्दी शहर की भाषा की भाँति मार्जित सुकुमार और नागरिक नहीं है। किन्तु अपने इस दोष के कारण ही तो वह सजीव बनी रह सकी है, इसी के कारण वह जरा-जीर्ण, निष्प्राण और नीरस होने से बच सकी है।

हिन्दी पर आक्षेप

अब हमें देखना चाहिए कि हिन्दी पर आक्षेप करने वाले और हिन्दी उर्दू को हिन्दुस्तानी के रूप में एक भाषा बनाने का प्रयत्न करने वाले वे लोग हैं कौन। इस नए आन्दोलन का आखिर उद्देश्य क्या है? 'हिन्दी' और 'उर्दू' इन शब्दों के प्रयोग पर ही क्यों आपत्ति की जाती है जब कि 'पंजाबी', 'बँगला', 'गुजराती', 'मराठी', 'तमिल', 'तैलगू' इत्यादि शब्दों के प्रयोग पर कोई प्रतिबन्ध नहीं?

हिन्दी के प्रति अन्याय

गत १६ अप्रैल के पानियर में एक लेख विशेष स्थान पर छापा गया है, जिस में नाम ले कर मुझसे अपील की गई थी कि मैं संयुक्तप्रान्त को एक भाषा भाषी बनाने की योजना में योग दूँ। हिन्दुस्तानी एकेडेमी की कान्फ्रेन्स में होने वाले कुछ भाषणों से ज़ाहिर होता है कि एक भाषा ही चिर-इप्सित अभीष्ट होना चाहिए। क्या मैं पूछ सकता हूँ कि

क्या बंगाल को भी समान भाषा-भाषी बनाए रखने का प्रयत्न किया जा रहा है, या इस के विपरीत उर्दू को बंगाल पर ज़बरदस्ती लादा जा रहा है ? क्या हैदराबाद की रियासत अपने ७५ प्रतिशत निवासियों की भाषा को अपना रही है, और क्या भाषा की एकता ही वहाँ का आदर्श है ? अन्य प्रान्तों में भी क्या भाषा की एकता को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया जा रहा है या वहाँ भी उर्दू को उन लोगों पर लादा जा रहा है जिन के पूर्वजों को न कभी उर्दू के एक शब्द का ज्ञान था और न जिन्होंने उस लिपि को ही कभी देखा था ? बंगाल के एक राजनीतिक नेता के विषय में यह कहानी प्रसिद्ध है कि उन्होंने ज़ोर दे कर कहा था कि हज़रत मोहम्मद उर्दू भाषा ही बोलते थे !

इन बातों को देखते हुए वास्तव में सन्देह होने ही लगता है कि क्या एक भाषा के प्रचारक—उस पर भी हिन्दुस्तानी के प्रचारक—वास्तव में हितचिन्तक कहलाने के अधिकारी हैं। सन्देह होने ही लगता कि उन का उद्देश्य सांस्कृतिक साहित्यिक अथवा शिक्षा-सम्बन्धी नहीं। हिन्दी पर आपत्ति करने वालों में से कितने लोग ऐसे हैं जिन्होंने नागरी लिपि को सीखने का कष्ट किया हो ? 'हिन्दुस्तानी' के प्रचारकों में कितने हैं जिन्होंने हिन्दी-साहित्य के एक भी महान्ग्रन्थ को पढ़ा है ? किसी भी वर्ष यूनीवर्सिटी अथवा बोर्ड की परीक्षाओं में उर्दू और फ़ारसी विषयों को लेने वाले हिन्दू विद्यार्थियों की ओर नज़र दौड़ाइए और फिर उस संख्या की तुलना कीजिए हिन्दी में परीक्षा देने वाले मुसलिम विद्यार्थियों की संख्या से—संस्कृत में तो शायद ही कोई मुसलिम विद्यार्थी देखने को मिले, यदि कोई चमत्कार ही न हो जाय ! या हिन्दू विद्यार्थियों के किसी होस्टल में जा कर देखिए कोई उर्दू पत्र अथवा पत्रिका अवश्य देखने को मिल जायगी, लेकिन किसी मुसलिम होस्टल में तो ऐसी चीज़ें ग़लती से भी देखने को न मिलेंगी।

'हिन्दुस्तानी' के कुछ नमूने

इस ढंग से लिखने में मुझे खेद होता है, लेकिन जब तक हमे विश्वास न हो जायगा कि हमारे मुसलिम मित्र हिन्दी के प्रति, उसे हेय समझना छोड़ कर, अधिक सहानुभूति नही रखने लगे है तब तक हम संस्कृत भाषा के प्रस्ताव पर विचार करने के लिए हरगिज तैयार नही ।

मुझे लिखने की इच्छा दो पेम्फलेटों के कारण हुई है जो मुझे हाल ही में मिले थे । वे दोनों पेम्फलेट मेरे पास भेजे गए थे और मुझे अपना यह कर्त्तव्य मालूम होता है कि मै उन के बारे में कुछ लिखूँ । पहले पेम्फ़लेट के लेखक है मुसलिम यूनीवर्सिटी के श्री० रशीद अहमद सिद्दीकी । उसका शीर्षक है 'खुतबए सदारत ।' पहला पैरा इस प्रकार है :—

"हज़रत ! मै अंजुमन की तरफ़ से आप का शुक्रिया अदा करता हूँ कि आप ने इस तक़रीब में शिरकत की जहमत गवारा फ़रमाई । आप की शिरक़त हमारी इज्ज़त अफ़ज़ाई का मुजीब है और हम को उम्मीद है कि यह दूसरी सालाना तक़रीब आप की तवज्जह और हमदर्दी अपने मक़ासिद में मजीद कामयाबी हासिल करेगी ।"

यदि यह वास्तविक, दरबारी परिमार्जित उर्दू का नमूना होता तो मुझे इस में कोई आपत्ति न थी । लेकिन वक्ता महाशय इसे 'हिन्दुस्तानी' कहते हैं और जब साथ-साथ वे हिन्दी पर आक्षेप करने लगते है तो धैर्य का अन्त हो जाता है और यह प्रश्न पूछने की इच्छा होती है कि फ़ारसी न जानने वालों में से आखिर कौन ऊपर के उद्धरण को समझ सकता है ?

'हिन्दुस्तानी', जिस के अनेक समर्थक हो गए है, के कुछ और उदाहरणों को और लेना चाहिए । वे सभी श्री सिद्दीक़ी के 'खुतबए सदारत' से लिए गए हैं ।

(१) "कहीं यह हक़ीक़त बाज़ नाहक़ को शियोर के ज़बाल का मुजीब न हो—बिलखुसूस ऐसी हालत में जब कि आज इन नाहक़

कोशिशो को बेदागी और आजादी का मातरादीफ क़रार दिया जाता हो।" (उक्त उद्धरण में ३२ शब्दों मे से १४ फ़ारसी या अरबी के है)

(२) "हिन्दुस्तान या दुनिया की किसी बोली को जब कभी मक़-बूले आम बनने की जरूरत पेश आएगी उस वक़्त उस ज़बान को वही ख़ुलूस, वही रवादारी, हमागीरी और वही दाद वो सितद रखनी पड़ेगी जो उर्दू का तरय्ये इम्तियाज है।" (३८ में से १४ शब्द फ़ारसी अथवा अरबी के है)

(३) "सब से सही और सलेह मन्तिक वाक़यात की होती है और वाक़यात ही की रोशनी और राहबैर में हम को मंज़िले मक़सूद की ओर बढ़ना चाहिए।" (४४ में से १६ शब्द फ़ारसी या अरबी के हैं)

(४) "इस सिलसिले में बेमौक़ा न होगा कि अगर मै उर्दू हिन्दी में ग़ैरमानूस और सकील अलफ़ाज़ की भरमार के बारे में कुछ अर्ज़ कर दूँ। मुझे इतरफ़ है कि मसला भी बहस मुबाहसे की ज़ात में आ कर काफ़ी फरसूदा हो चुका है।" (४४ में से १६ शब्द फ़ारसी अथवा अरबी के हैं।)

(५) "सकील और ग़ैरमानूस अलफ़ाज़ के बेजा इस्तेमाल की ज़मन में बाज उन असालयात बयान का तज़करा कर देना भी बेमहल न होगा जो हमारे अदब में दाख़िल हो चुके हैं। (३१ में से १४ शब्द अरबी या फ़ारसी के हैं और जो नहीं हैं उन में और के में उन का देना न होगा जो हमारे हो चुके है।)

(६) "वक़्त आ गया है और ज़रूरत और मसलहत इस की मक़-ज़नी है कि उर्दू का नाम 'हिन्दुस्तानी' क़रार दिया जावे। (२० में से ६ शब्द अरबी और फ़ारसी के है।)

मैं नहीं जानता कि क्या वक्ता महाशय जानते है कि उन्होंने जो कुछ भी कहा है उस से उन्होंने अपने ही ऊपर व्यंग किया है। नहीं, कहा जा सकता है कि क्या उन का ख़्याल है कि भारतीय जनता का लक्षांश

भी इस भाषा को समझ सकने में समर्थ होगा। मेरे कहने का यह आशय नहीं कि हिन्दू लेखक ऐसी कृत्रिम, क्लिष्ट और दिखावटी शैली का प्रयोग करने के दोष से मुक्त हैं या वे अप्रचलित कठिन और संस्कृति के भारी-भारी शब्द भाषा में लाने का प्रयत्न नहीं कर रहे हैं। वे भी हिन्दी की शुद्ध शैली को छोड़ते जा रहे हैं। लेकिन हिन्दी-लेखक यह दावा कभी नहीं करते कि वे हिन्दी नहीं उर्दू लिख रहे हैं।

दोनों भाषाएँ भिन्न-भिन्न रहनी चाहिए

मेरे कथन का आशय केवल यह है कि हिन्दी और उर्दू के अस्तित्व को पृथक-पृथक रक्खा जाय। अपना लेख समाप्त करने से पूर्व मैं मौलवी सुलेमान नदवी के 'हमारी ज़बान का नाम' शीर्षक निबन्ध का जिक्र और कर देना चाहता हूँ। उसे उन्होंने गत २९ मार्च को अलीगढ़ में पढ़ा था। भारतीय इतिहास के विषय में है—

"जब अँगरेज़ों के इक़बाल का सितारा चमका तो फ़ोर्ट विलियम में सियासत के खिलाड़ियों ने इल्म वो दानिश के पासे फेंके। दूरबीनी से मुल्क की दो क़ौमों को जो एक हज़ार साल की मेहनत और जद्दोजहद के बाद एक क़ौम बनी थी, जिसका तमाद्दुन, जिस की ज़बान और जिस की सियासत एक हो रही थी उस को फिर दो क़ौमों में बाँट कर अलहदा-अलहदा करने के लिए कोशिशें शुरू कीं।" (७३ शब्दों में से २४ फ़ारसी या अरबी के हैं।)

आगे चल कर मौलाना ने हिन्दी को हेय समझ कर और उसके बारे में—'जिस भाषा में कुछ मज़हबी नज़्में कभी लिखी गई थीं'—कह कर उसे टाल दिया है। उर्दू नाम को बदल कर "हिन्दुस्तानी" कर देने के पक्ष में दलील देते हुए मौलाना लिखते हैं—

"इस ज़बान को एक ग़ैर मुताल्लुक विदेशी लफ्ज़ से मासूम करने से हर अजनबी के जहन में यह ख्याल आता है कि यह जैसा विदेशी

नाम है वैसा ही विदेशी ज़बान भी होगी, और हम को इस ग़लतफ़हमी को दूर करने के लिए एक लम्बी तक़रीर की हमेशा ज़रूरत होती है। यह नुक्स 'हिन्दुस्तानी' नाम क़बूल कर लेने से फ़ौरन दूर हो जाता है।"

'ऐ हमारे अन्धे पथ-प्रदर्शको ! तुम भुनगे पर आपत्ति करते हो और ऊँट को निगल जाते हो !'—यदि लोग, 'ग़ैर मुताल्लुक' 'मौसूम', 'ज़िहान' और 'ग़लतफ़हमी' जैसे शब्दों पर आपत्ति नहीं करते तो फिर उन्हें 'उर्दू' नाम से ही क्या शिक़ायत होगी ?

मैं फिर कह देना चाहता हूँ कि जब हम लोगों में इस क़दर पारस्परिक अविश्वास और सन्देह है तो फिर इस वक़्त 'हिन्दी' और 'उर्दू' की जगह 'हिन्दुस्तानी' का नाम लेना उचित नहीं। जहाँ मैं दोनों भाषाओं के पृथक-पृथक अस्तित्व की बात कहता हूँ वहाँ पर मैं यह भी कह देना चाहता हूँ कि युक्तप्रान्त में रहने वालों का कर्त्तव्य है कि उन्हें हिन्दी और उर्दू, दोनों को ही सीखना और जानना चाहिए। एक समय था जब नार्मल और हाई स्कूल में दोनों भाषाओं की जानकारी अनिवार्य थी। शायद काग़ज पर तो यह नियम अब भी मौजूद है लेकिन आवश्यकता इस बात की है कि इसे कार्यान्वित भी किया जाय। यदि शिक्षकवर्ग को कुछ उत्साह हो और शिक्षा-विभाग की तरफ़ से कुछ सख़्ती की जाय तो उसका फल आश्चर्यजनक होगा। यदि दोनों भाषाओं का अध्ययन होने लगेगा तो उस से लाभ ही होगा। दोनों के साहित्य के ज्ञान से सहृदयता बढ़ेगी और वास्तविक साहित्य का प्रादुर्भाव होगा। मैं इस के पक्ष में नहीं कि आजतक के ऐतिहासिक विकास को भुला कर फिर सब कुछ नए सिरे से शुरू किया जाय। हिन्दी और उर्दू दोनों को ही जीने का अधिकार प्राप्त है—यह अधिकार उन्हें अपने इतिहास से प्राप्त हुआ है।[१]

---

[१] भारत (प्रयाग) ११ मई सन् १९३७ ई० प्रकाशित

हिंदी के कुछ भूले हुए शब्द

इधर तीस-चालीस वर्ष से हिन्दी गद्य और पद्य की गति अधिकाधिक संस्कृत की ओर होती रही है—उर्दू और फ़ारसी के डर से, पुराने हिन्दी के शब्दों का भी प्रयोग कम होने लगा है। अब तो दशा यह है कि कम से कम आज कल की हिन्दी कविता केवल वही समझ सकता है जो संस्कृत में पूर्ण अवगति रखता हो। यही दशा उर्दू की हो रही है। इस समय मुझे हिन्दी के ही विषय में कुछ लिखना है। हिन्दी केवल विद्वानों की भाषा नहीं है—सर्वसाधारण की भाषा है—मज़दूरों की, काश्तकारों की, इक्केवालों की, दूकानदारों की भी भाषा है। आज ही हिन्दी की एक मान्य पत्रिका में सब से पहली कविता जो मुझे मिली, उस का अंतिम पद यों है—

चली स्नान-हित शोभा-वलयित,
गीत-सदृश चित्त प्रिय-छवि-निर्मित;
क्षालित शत-तरंग-तनु पालित,
अवगाहित निकली द्युति निर्मल।

इस में हिन्दी के दो शब्द, 'चली', 'निकली',—बीस में से दो शब्द धोखे से आ गए हैं। जनता को छोड़ दीजिए, पढ़े लिखे वाचकों को भी समय लगेगा इसके समझने में। ऐसी कविताओं का भी साहित्य में स्थान है, ऊँचा स्थान है। परन्तु जब सभी कवि इसी शैली का अनुकरण करेंगे तो हिन्दी और संस्कृत में भेद ही क्या रह जायगा,

---

[१] "हिन्दुस्तानी" (प्रयाग) में प्रकाशित एक लेख।

जीवित और पुरानी भाषा में अन्तर ही कौन सा होगा ? सुलभता से उर्दू में भी ऐसे क्लिष्ट, अरबी-मिश्रित उदाहरण मिल जायँगे । हिन्दू और मुसलमानों के परस्पर विरोध और मनोमालिन्य के ही कारण हिन्दी और उर्दू की ऐसी प्रगति हो रही है । यह खेद का विषय है । साथ ही 'हिन्दुस्तानी' का भी मैं इस समय विरोधी हूँ, इसलिए कि इस नई भाषा के संस्करण में हिन्दी की सर्वथा हानि है और उर्दू की उन्नति । पढ़े-लिखे हिन्दू बहुत संख्या में ऐसे मिलते हैं जो उर्दू पढ़ने और लिखने की योग्यता रखते हैं——मुसलमान ऐसे बहुत थोड़े हैं जो हिन्दी के अक्षरों से भी परिचित हों । ऐसी दशा में हिन्दी-उर्दू मिलन में उर्दू का ही प्राधान्य होगा, और हिन्दुस्तान के साधारण लोगों के लिए यह एक क्लिष्ट विदेशी भाषा हो जायगी । साथ ही संयुक्त प्रान्त और पंजाब के अतिरिक्त और प्रान्त वालों के लिए तो इस का समझना असम्भव ही हो जायगा । कालक्रम से, पचास-सौ वर्ष में हिन्दू मुसल्मानों में ऐक्य स्थापित होने पर, सम्भव है 'हिन्दुस्तानी' भाषा प्रचलित करने का यत्न सफल हो । 'हिन्दुस्तानी' को आज-कल की साधारण भाषा मान कर जो उस का समर्थन करते हैं, उन की भाषा के कुछ उदाहरण नीचे उद्धृत करता हूँः——

(१) "मेरा जाती यक़ीदा यह है कि अगर हिन्दुस्तान में क़ौमी इत्तहाद की बुनियाद कोई हो सकती है तो वह मुश्तर्का अदब या मुश्तर्का ज़बान है । हम में अगर एक-दूसरे के अदब ओ शेर और तारीख़ो-फ़लसफ़ा की क़द्र पैदा हो जाय या बअल्फ़ाज़े दीगर हम एक दूसरे को समझने लगें तो बहुत कुछ इख़्तलाफ़ और ग़लतफ़हमियाँ जो इस वक़्त हमारे लिए बायसे नंग हैं दूर हो सकती हैं ।"

(२) "मेरी नाचीज़ राय में हिन्दुस्तान का लिसानी इत्तिहाद जिस में हिन्दुस्तानी आम ज़बान होगी इसी क़द्र अहम

है जितना कि मुल्क का इन्तज़ामी इत्तिहाद जो नई इसलाहात की तहत में क़ायम किया जाने वाला है।"

(३) "अगर हमारी एकेडेमी हमारे कवियों और लेखकों को जगा सके ताकि वह इस मायाबी दुनिया के सपनों की असलियत पहचान लें और उस सच्ची दुनिया के अमृतमय नूर से हमारे मनों को रोशन कर दें तो सचमुच इस संस्था का मक़सद पूरा हो जाय।"

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि अभी कुछ दिनों तक हिन्दी-उर्दू संमिश्रण केवल कठिन ही नहीं, हानिकारक और हास्यास्पद भी है।

फिर भी मेरा विचार है कि हिन्दी लिखने और बोलने वालों का यह कर्तव्य है कि जहाँ ठेठ हिन्दी के शब्द का उपयुक्त प्रयोग हो सके वहाँ अनावश्यक कठिन संस्कृत शब्द का प्रयोग न करें। बहुत स्थान में, विचार की गूढ़ता से, भाव की असाधारणता से, पद के लालित्य से विवश हो कर संस्कृत का सहारा लेना पड़ता है। परन्तु हमारा हिन्दी का भांडार ख़ाली हो रहा है। हम दिनानुदिन इन शब्दों को देहाती समझ कर भूलते जाते हैं। इन की ही कृपा से हमारी भाषा जीवित रह सकती है और सर्व-साधारण के हृदयंगम हो सकती है।

सब से पहला हिन्दी-कोष हैरिस साहिब ने मद्रास में सन् १७६० ई० में प्रकाशित किया। फिर सन् १८०८ ई० में एक कोष मद्रास में ही मुद्रित हुआ। हिन्दुस्तानी का एक कोष सन् १८०८ ई० में कलकत्ता में टेलर साहब और हंटर साहब ने प्रकाशित किया था। फिर एक नया संस्करण परिवर्धित रूप में, लन्दन में, सन् १८१७, में मुद्रित हुआ। जौन शेक्सपियर साहब का सन् १८३४ का कोष बहुत ही उपकारी है, और उस समय के सब कोषों से अच्छा है। इस के तीसरे संस्करण के प्रकाशित होने की तिथि से पूरे सौ वर्ष हो चुके हैं, और इस को देखने से ज्ञात होता है कि उस

समय कितने शब्द प्रचलित थे जिन्हें हम भूल गए हैं अथवा जिन्हें हम देहाती कह कर तिरस्कार करते हैं।

अपनी भूमिका में शेक्सपियर साहब ने एक बड़ी अच्छी बात कही है जिस से उन लोगों के मत की पुष्टि होती है जो हिन्दी को राष्ट्रभाषा कहते हैं—

> "भारतवर्ष जैसे विस्तृत देश में, जहाँ मनुष्यों की विभिन्न जातियाँ बसती हैं, सब से प्रचलित व्यवहारिक भाषा—उसे हम 'ज़बाने-उर्दू', 'रेखता', 'हिन्दी' 'हिन्दुस्तानी' अथवा 'दकनी' जो चाहें कह लें—के अन्तर्गत बोलियों की विभिन्नता मिलना स्वाभाविक है, और एक भाग के साधारण शब्द दूसरे भाग के निवासियों के लिए न केवल अपरिचित वरन नितान्त दुरूह हो सकते हैं। इस लिए वह भाषा जो यहाँ वर्णित है, और जो साधारणतया हिन्दुस्तान ख़ास या दकन में, दिल्ली, आगरा, हैदराबाद या कर्नाटक में प्रचलित है मूलतया एक है, फिर भी देश के विस्तार के कारण बोलियों में, अनेक अंशों में भेद हुए बिना नहीं रह सकता।"[१]

---

[१] In India, extensive as it is, and peopled by many different races of men, variety of dialects must be expected to occur in the most prevalent colloquial language, whether denominated *Zaba'n-i-Urdu, Rekhta, Hindi, Hindustani,* or *Dukhani;* and words of common use in some parts may appear strange, or be even unintelligible, to the inhabitants of others. Thus, though the language here treated of, and which most generally prevails in Hindustan proper, or in the Dakhan, at Delhi, Agra, Hyderabad, or in the Carnatic, is essentially one and the same; yet, through so wide a range of country, differences will present themselves in various particulars of speech.

इस कोष का टैटिल पेज यों है :—

"A Dictionary, Hindustani and English, with a copious Index, fitting the work to serve, also, as A Dictionary English and Hindustani By John Shakespeare, London: Printed for the Author, *by* J. L. Cox and Son, 75, Great Green Street, Lincoln's-Inn Fields; and sold by Parbury, Allen and Co. Booksellers to the Hon. East India Company. Leadenhall Street. MD CCC XXXIV."

हज़ार पृष्ठ से अधिक का यह कोष मेरे इस लेख का आधार है। मैं कुछ ऐसे हिन्दी शब्दों की सूची देता हूँ जिन का अब प्राय: व्यवहार नहीं होता है—

अधन . .	निर्धन के अर्थ में
उबाकना . .	वमन करना
अबलापा . .	कमज़ोरी-असामर्थ्य
अबूझ . .	नासमझ
अबोला . .	जिसे चुप रहने की आदत हो
उभराना . .	बर्तन को ऊपर तक भर देना
अपटक . .	जो हाथ पैर चलाने में असमर्थ हो
उपराला . .	सहायता
उपरावरी . .	लड़ाका
उपरौंचा . .	अँगोछा
अफेंडा . .	घमंडी
अटन . .	ढेर
उजान . .	नदी के प्रवाह के विरुद्ध

उजवाना . .	एक पात्र से दूसरे में उड़ेलवाना
उज्झड़ . .	गँवार
अदर्सा . .	मलमल का एक प्रभेद
अधबर . .	बीच में
अधर्सा . .	कपड़े का आधा टुकड़ा
अर्बराना . .	घबराना
अरस . .	नीरस
अर्कट . .	चतुरता
अर्गाना . .	भिन्न करना
अर्गनी . .	कपड़ा सुखाने के लिए रस्सी
उरेब . .	धोखा
अड़ानी . .	बड़ा छाता
अड़ंग . .	ऐसा शहर जहाँ तिजारत हो
अड़ैंच . .	दुश्मनी
ओसारा . .	बरांडा
उसिजना . .	उबालना
आसन तले आना .	आधीन होना
असौं . .	इस वर्ष
उसीसा . .	तकिया
अशुधिया . .	अशुद्ध बोलने या पढ़ने वाला
अकड़ैत . .	अकड़ने वाला
आग फाँकना . .	बातें बनाना
आगम बाँधना . .	भविष्यवाणी करना .
अगोरना . .	देख-भाल करना
अगोरिया . .	चौकीदार
अलंग . .	किनारा; कोना

अंटाचित	. .	अभागा
इंडुआ	. .	कपड़े का टुकड़ा जिस पर गट्ठर रक्खा जाय
आवाई	. .	ख़बर
ओस पड़ जाना	. .	दाम कम हो जाना
ऊकना	. .	भूल करना
औगाह	. .	गहरा
उहार	. .	पालकी को ढकने का कपड़ा
बात फेंकना	. .	चिढ़ाना
बाज	. .	विरह
बाछना	. .	चुनना
बाँस पर चढ़ना	. .	अपवादित होना
बवरूता	. .	बहरूपिया; मूर्ख
बित्तम बित्तम	. .	थोड़ा थोड़ा कर के
बटपाड़	. .	डाकू
बजोड़ना	. .	मारना
बिचकाना	. .	प्रतिज्ञा भंग करना
बुरास	. .	क्रोध; अप्रसन्नता
बसनी	. .	बटुआ
बिसुरना	. .	धीरे-धीरे रोना
बकारा	. .	मुसाफ़िर
बिलल्ला	. .	मूर्ख
बंदूहा	. .	आँधी
बनहा	. .	जादूगर
बवेसिया	. .	बकनेवाला
बिहाना	. .	समय व्यतीत करना

भदेसल	. .	भद्दा; कुरूप
बहुरना	. .	वापस आना
भड़ंग	. .	भड़भड़िया
भकुआ	. .	बेवक़ूफ़
भंभूआ	. .	वह फ़क़ीर जो चोरी करने पर बाध्य होता है
भोकस	. .	जादूगर
पाटूनी	. .	मल्लाह
पातर	. .	वेश्या
पिछलपाई	. .	भूतिनी
पिड़ाना	. .	दर्द करना (यह अच्छा संस्कृत "पीड़ा" से उत्पन्न हुआ शब्द है)
परचूनिया	. .	अनाज बेचने वाला
पसर	. .	मवेशी को रात में चराना
पखेस	. .	मुहर
पुलहाना	. .	राज़ी करना
पँवारा	. .	कहानी
पोआना	. .	धूप में सुखाना
पोटला	. .	गट्ठर
पौढ़ना	. .	लेटना
पोली	. .	बेवक़ूफ़
पोहना	. .	रोटी बनाना
फफसा	. .	बे स्वाद का
फर्फंद	. .	धोखा
फसकड़	. .	ज़मीन पर पाँव फैला कर बैठना
पेखनिया	. .	नाटक करने वाला पात्र

तारे तोड़ना	. .	धोखा देना
तपरी	. .	थोड़े ऊँचाई की जगह
ततरी	. .	चपला कुमारी
तितिंबा	. .	अड़चन
तुर्तुरा	. .	तेज (मनुष्य)
तड़ा	. .	द्वीप
तौंसना	. .	गर्मी से परेशान होना
थाँग	. .	चोरों का अड्डा
थोड़दिला	. .	कृपण
त्यूर	. .	सर चकराना
त्यौंधा	. .	जिसे कम सूझता है
टाबर	. .	छोटा तालाब
टिपका	. .	उँगली से लगाया हुआ कोई रंग
टकसाल चढ़ना	.	शिक्षा प्राप्त करना
ठेसरा	. .	ताना
जागाबंदी	. .	नींद आना
जुल	. .	धोखा
जमोगना	. .	दर्याप्त करना
जुन्हाई	. .	चंद्रमा की ज्योति
झाँसू	. .	धोखा देने वाला; फुसलाने वाला
झकोर	. .	हानि
झोझा	. .	पेट
चपड़ाऊ	. .	निर्लज्ज
चप्पन	. .	बर्तन का ढक्कन
चफाल	. .	ऐसा स्थान जिस के चारों तरफ़ दलदल हो

चट्टा . .	विद्यार्थी
चकरैला . .	गोल
चकलाना . .	चौड़ा करना
चिकनिया . .	शौक़ीन आदमी
चंडावल . .	सेना के पीछे का अंश
चौतर्का . .	एक प्रकार का तंब
चोर ढोर . .	मुद्दई और मुद्दालह
चौड़ाई मारना . .	बातें बनाना
चौकड़ी भूलना . .	आपे से बाहर होना
चोंटी आसमान पर घिसना	घमंडी होना
छतनार . .	चिपटा
छुरी तले दम लना .	कठिनाई में न घबड़ाना
छीजना . .	घटना; रोगी होना
दुरना . .	छिपना
दसौंधी . .	प्रशंसात्मक कविता लिखने वाला
डगरा . .	सड़क
दिगवार . .	चौकीदार
दुल्मियाँ . .	छोटा बटुआ
दिनी . .	बुड्ढा (जानवर)
धँधार . .	अकेला
धुँधेला . .	दुष्ट
धिगाना . .	त्रस्त करना
धूरा देना . .	ठगना
डाबक . .	कुएँ का ताज़ा पानी
डुकरिया . .	बुढ़िया
ढाँसा . .	अपवाद

रबड़	. .	थकान
रमद्दू फट्टू	. .	साधारण लोग
रहवाई	. .	मकान का किराया
सापन	. .	वह रोग जिसमें सर के बाल झड़ जाते हैं
सपर्दा	. .	नाचने वाली औरत के साथ का बजाने वाला
सुतार	. .	बढ़ई
सत्राना	. .	क्रुद्ध होना
सताऊ	. .	तंग करने वाला
सतीला	. .	बलवान
सुकलाई	. .	(शुक्ल से) सफ़ेदी
सिवाना	. .	सीमा
सुनोघन	. .	इशारा
सेना	. .	गाँव का तहसीलदार
कालिमा	. .	अपवाद
कुलाँच मारना	. .	कूदना
कुलबोड़	. .	जो अपने कुल को कलंक लगाता है
कमठ	. .	एक तरह का धनुष (यह संस्कृत शब्द है)
कंटर	. .	कृपण
कँगड़ा	. .	मोटा-ताज़ा
कने	. .	नज़दीक; पास
कूटना	. .	दाम लगाना
कौंध	. .	चमक (जैसे बिजली की)
खब्बा	. .	बँहथिया

खटाल	. . .	वसंत समय
खरियाना	. . .	जमा होना
खिसियाहट	. .	बिगड़ना

इस प्रकार के सैकड़ों शब्द हिन्दी में पहले बोल-चाल में व्यवहृत थे। कोई कारण नहीं कि ये फिर से व्यवहार में न लाए जावें।

'बिहारी सतसई' में फ़ारसी और अरबी

भारतवर्ष की सभ्यता की और जो कुछ विलक्षणतायें हों, एक विशेषता यह अवश्य है कि यहाँ का सिद्धान्त रहा है "वसुधैव कुटुम्बकम्', और यह सिद्धान्त काव्य और साहित्य में तो बहुत ही स्पष्ट है। जीवित और प्रचलित भाषा का स्वभाव है कि वह नये शब्दों को सदा ग्रहण करती है। यदि शब्द उपयोगी हों तो फिर वह, चाहे कहीं का भी हो, अपनाया जाता है। इसी प्रकार से अँगरेजी में बहुत से शब्द प्रचलित है जो हमारे देश के हैं—यथा 'अवतार', 'पंडित', 'पक्का', 'बन्दोबस्त', 'बाजार', 'बक' ('वाक्य'., से अथवा 'बकने' से), 'छोकड़ा', 'घाट', 'खबर', 'पूजा', 'कोई है' 'सवार' इत्यादि। हमारे यहाँ हिन्दी ने फ़ारसी तथा अँगरेजी के बहुत से शब्दों को अपनाया है और इस में उदारता दिखाई है। यदि ऐसी ही उदारता उर्दू के कवियों ने दिखाई होती तो सम्भव है हिन्दी और उर्दू में जितना अंतर है उतना न होता। परन्तु उर्दू के कुछ कवियों ने हिन्दी के 'लाज' शब्द के व्यवहार करने पर क्षमा याचना की है। अस्तु, आज इस लेख में मै पाठकों का ध्यान "बिहारी सतसई" में फ़ारसी और अरबी शब्दों की ओर दिलाना चाहता हूँ। सम्भव है, यह किसी और लेखक ने भी पहले लिखा हो, मुझे इस का पता नहीं है।

(१) "मनु ससि सेखर की अकस"—عکس

(यदि इस में किसी को आपत्ति हो कि عکس का अपभ्रंशरूप यहाँ प्रयोग किया गया है तो स्मरण रखना चाहिए कि 'शशि' और 'शेखर' का भी शुद्ध संस्कृत रूप इस दोहे में नहीं हैं। प्रचलित भाषा शब्दों को श्रवण-मधुर रूप में ही प्रयोग करती है।)

(२) "पारयौ सोर सुहाग कौ"—شور

(३) "स्तन मन नितम्ब कौं बड़ी इजाफ़ा कीन"—اضافہ

(४) "नवनागरितन मुलक लहि जोवन आमिल जोर।
घटि बढ़ि में बढ़ि घटि रकम करी और की ओर।"
ملک – عامل – زور – رقم

(५) "वाकी तन ठहराति यह, किबलिनुमालों दीठि" قبلہ‌نما

(६) "हलकी फौज हरौल ज्यौं परति गोल पर भीर" فوج – غول

(७) "गिरह कबूतर लेत" گرہ - کبوتر

(८) "नटन सीस साबित भई" ثابت

(९) "गनी धनी सिरताज" سرتاج

(१०) "यह वसन्त न खरी गरमं" گرم

(११) "हद रद छद छवि देखियत" حد

(१२) "ज्यौं ज्यौं रुख रुखौ करति" رخ

(१३) "लखि वेनी के दाग" داغ

(१४) "छतौं नेह कागद हियें" کاغذ

(१५) "लसी तमासे के दृगन" تماشا

(१६) "परों कोस हजार" ھزار

(१७) "चित के हित चुगलये" چغل

(१८) "रसिक सुरसल खियाल" خیال

(१९) "राख्यौ हियौ हमाम" حمام

(२०) "परयौ जोर विपरीत रति" زور

(२१) "प्याले ओठ प्रिया बदन" پیالہ

(२२) "परे लाल बेहाल" بیحال

(२३) "बचे न बड़ी सबील हू" سبیل

(२४) "मनौ मदन छितिपाल कौ छाँह गीर छवि देत" گیر

(२५) "करै गँवारि सुमार" شمار

(२६) "सीस **सिलसिलेवार**" سلسلہ
(२७) "उपजी बड़ी **बलाय**" بلا
(२८) "लोयन बड़ी **बलाय**" بلا
(२९) "लाज **लगाम** न मान हीं" لگام
(३०) "ये मुख **जोर** तुरंग लौं" زور
(३१) "लगा लगी लोयान करैं **नाहक** मन बँध जाँहि" ناحق
(३२) "कौन **गरीब निवाजिवौ**" غریب نواز
(३३) "क्यों न होय **बेहाल**" بیحال
(३४) "नै कोउ हिन **जुदी** करी" جدا
(३५) "अपनी **गरज** निवोलियत" غرض
(३६) "**खूनी** फिरत **खुंश्याल**" خونی - خوشحال
(३७) "खरे **अदब** इठलाहटी" ادب
(३८) "औधाई **सीसी** सुलखि" شیشی
(३९) "ये बदरा **बदराह**' بدراہ
(४०) "कीने बदन **नमूद**" نمود
(४१) "**कागद** पर लिखत न बने" کاغذ
(४२) "दीने दू **चश्मा** चखन" چشمہ
(४३) "नागर नरनि **सिकार**" شکار
(४४) "ये कजरारे कौन पर करत **कजाकी** नैन" قزاقی
(४५) "पायक धाय **हजार**" ہزار
(४६) "बिन जिह भौंह **कमान**" کمان
(४७) "मनमथ **नेजा नोक** ही" نیزہ - نوک
(४८) "**जरी**कोर गोरे बदन" زری
(४९) "मनौ **गुलूबंद** लाल की" گلوبند
(५०) "उठत घटत दृग **दाग**" داغ
(५१) "किये मनौ वाही **कसरि**" کسر

(५२) "किय **हायल** चित चाय लगि" حائل
(५३) "भूखन **पायंदाज**" پائےانداز
(५४) "अरगह ही **फानूस** सी" فانوس
(५५) "दर्पन के से **मोरचा**" مورچہ
(५६) "कीने जतन **हज़ार**" ہزار
(५७) "गहि गहि गरब **गरूर**" غرور
(५८) "**नाज़ुक** कमला बाल" نازک
(५९) "परी **परी** सी टूटि" پری
(६०) "खेलत फागु **खियाल**" خیال
(६१) "चली चहूँदिसि **राह**" راہ
(६२) "जगत **जुराफा** कीन" زرافہ
(६३) '**नरम** विभौ की हानि" نرم
(६४) "दिये लोभ **चसमा** चखनि" چشمہ
(६५) "**सोरा** जानि कपूर" شورہ
(६६) "चढ़ि कत करति **गुमान**" گمان
(६७) "आगे कौन **हवाल**" حوال
(६८) "गई सुबीत **बहार**" بہار
(६९) "**सफर** परेई संग" سفر
(७०) "**बाज** पराये पान पर" باز
(७१) "**अतर** दिखावत काहि" عطر
(७२) "बहुधन लै **अहसान** कै" احسان
(७३) "फसी **फौज** में बन्द बिच" فوج
(७४) "लखि सब व्रज **बेहाल** بیحال
(७५) "यौं दल काढ़े **बलख** तें" بلخ
(७६) "**बाद** मंचावत **सोर**" باد - شور
(७७) "चाहै जाहि **बलाय**" بلا

(७८)	"दई दई सु **कबूल**"	قبول
(७९)	"मोहि तुम्हें बाढ़ी **बहस**"	بحث
(८०)	"बिनती बार **हजार**"	هزار
(८१)	"परयौ रहौं **दरबार**"	دربار
(८२)	"लखि लाखन की **फौज**"	فوج
(८३)	"लै लाखन की **मौज**"	موج
(८४)	"**फते** तिहारे हाथ"	فتح
(८५)	"**हुकुम** पाय जय साहि कौ"	حکم
(८६)	"बाम **तमासे** कर रही"	تماشا
(८७)	"**रुख** रुखे मिस रोख मुख"[१]	رخ

---

[१] सरस्वती (प्रयाग), मई सन् १९४० ई० में प्रकाशित

भारतीय विश्वविद्यालयों में हिन्दी[1]

सज्जनो,

प्रयाग विश्वविद्यालय में मै आप का हृदय से स्वागत करता हूँ और आशा करता हूँ कि आपकी नई संस्था चिरजीविनी होगी और यह अधिवेशन पूर्णरूप से सफल होगा। प्रयाग में हिन्दी साहित्य की सेवा बहुत दिनों से हो रही है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन का कार्यालय और संग्रहालय यहाँ है; इस विश्वविद्यालय में हिन्दी का उच्चतम कक्षा तक अध्यापन बहुत दिनों से हो रहा है; यहाँ के हिन्दी विभाग के सदस्य हिन्दी की अनेक प्रकार से अर्चना कर रहे है—इन कारणों से यह उचित ही है कि इस परिषद् का प्रथम अधिवेशन प्रयाग में हो। मैं आशा करता हूँ कि हमारे उर्दू विभाग के अध्यापक भी इसी रूप में ऐसी परिषद् संस्थापित करेंगे और मै उस को भी जितनी सहायता और जितना प्रोत्साहन सम्भव है देना अपना आनन्दपूर्ण कर्त्तव्य समझूँगा।

साहित्य और भाषा का क्षेत्र इतना विशद है कि इसका विभाजन आवश्यक है। वैसे उद्देश्य तो सब का एक ही है, परन्तु अध्यापन के कुछ विशेष प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं, कुछ विशेष समस्यायें सम्मुख उपस्थित हो जाती हैं, जिनका सुलझाना, जिन पर विचार करना, जिनकी आलोचना करना, जिन पर निर्णय करना आवश्यक है। अध्यापक वर्ग अपनी कठिनाइयाँ, अपने प्रस्ताव, अपनी कार्यप्रणाली, अपनी अध्यापनरीति, इत्यादि इस परिषद् में विचारार्थ उपस्थित कर सकते हैं। जिन विषयों

---

[1] भारतीय हिन्दी-परिषद् के प्रथम (प्रयाग) अधिवेशन (सं० १९९९ वि०) में उद्‌घाटनकर्ता के आसन से दिया गया भाषण।

पर वे ग्रन्थ लिख रहे हैं, जिन विषयों का व अन्वषण कर रह हैं, जो कुछ पुरातत्व की सामग्री वे एकत्रित कर सके हैं, भाषा सम्बन्धी जो उन के विचार हैं, साहित्य की वर्त्तमान गति पर जो उनके विचार हैं, भविष्य में साहित्य के विषय म जो उन की भावनायें हैं,—इन सब का विकास ऐसे अधिवेशन में हो सकता है। अध्यापकगण शिक्षा प्रणाली के पथप्रदर्शक हैं। वे समुचित समालोचनकला सिखाते हैं। वे शुद्ध भाषा का प्रचार करते हैं। उन से आशा की जाती है कि वे अर्वाचीन विचारों का प्राचीन सिद्धान्तों से समन्वय करेंगे और नवयुवक लेखकों के हृदय में आशा और उत्साह को संचरित करेंगे।

हिन्दी संसार में कुछ दिनों से कई प्रकार के शास्त्रार्थ हो रहे हैं और इस वाद-विवाद में बहुत समय नष्ट होता है। ब्रजभाषा अच्छी है कि खड़ी बोली? अवधी अच्छी है कि राजस्थानी? बुन्देलखंडी को प्रोत्साहन मिले या नहीं? छायावाद अच्छा है कि रहस्यवाद? साहित्य प्रगतिशील हो अथवा स्थिर? इत्यादि, इत्यादि। मैं समझता हूँ कि इन झगड़ों में पड़ना व्यर्थ है। साहित्य और कलाओं से विशिष्ट इस अर्थ में है कि "नैको मुनिर्यस्य मतन्न भिन्नम्"। जिस की जैसी रुचि है उसी से प्रेरित हो कर वह साहित्य की सृष्टि करता है। जिस भाषा में अपने भावों और कल्पनाओं को सुन्दरता से वह व्यक्त कर सकता है उसी में वह लिखेगा। जिन विषयों पर और जिस दृष्टिकोण से वह अपने हृदय के उद्गार को प्रकट करना चाहता है उसे करने देना चाहिए। किसी प्रकार का भी वाह्य नियंत्रण साहित्य के लिए अहितकर है। इतना अवश्य अध्यापक का कर्त्तव्य है कि वह भाषा की अशुद्धियाँ बतावे और साहित्य को—विशेषकर नवयुवक लेखक की रचना को—अश्लीलता से दूर रक्खे। इनके अतिरिक्त लेखक को पूर्ण स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। इस स्वतन्त्रता में कुछ कर्त्तव्य भी अन्तर्गत है, और सब से बड़ा कर्त्तव्य यह कि लेखक अपनी कला को किसी का दास न बनावे, चाहे दासत्व राजा का हो अथवा

दरिद्र का। अध्यापक का कर्त्तव्य यह है कि वह शिष्यों का उच्च साहित्य से परिचय करावे।

हिन्दी भाषा और साहित्य का संस्कृत से बहुत गहरा सम्बन्ध है और मै आशा करता हूँ कि यह सम्बन्ध पूर्ववत् संरक्षित रहेगा। यह सत्य है कि हिन्दी का साहित्य स्वयं बहुत पर्याप्त है और पठनीय ग्रन्थ भी बहुत हैं। फिर भी संस्कृत के भांडार से उपकार अब भी बहुत हो सकता है। इस देश के प्रत्येक शिक्षित पुरुष के लिए संस्कृत का ज्ञान आवश्यक है। हमारे पुराने ग्रन्थ, हमारा दर्शनशास्त्र, हमारी वैज्ञानिक पुस्तकें, हमारी धार्मिक पुस्तकें, हमारे नाटक और काव्य—सभी संस्कृत में हैं। संस्कृत की सहायता से ही हम देश के और प्रान्त के वासियों से परस्पर वार्तालाप और पत्र-व्यवहार कर सकते हैं। समस्त देश के शिक्षित समुदाय पर संस्कृत का प्रभाव है और सभी भाषायें—आर्य अथवा द्रावड़ी—संस्कृत से प्रभावित हुई हैं। और हिन्दी तो संस्कृत-तनया है ही।

मैं यह भी चाहता हूँ कि हिन्दी के विद्वान् गुजराती, मराठी और बँगला से परिचित हों। इन भाषाओं की दशा बहुत उन्नत है और उनसे हम बहुत कुछ सीख सकते हैं। उन की बहुत सी समस्यायें वैसी ही हैं जैसी हिन्दी की। उन भाषाओं के ज्ञान से हिन्दी का शब्द-भांडार बढ़ सकता है और उन साहित्यों के मनन से हिन्दी बहुत उपकृत हो सकती है। साथ ही हिन्दी पढ़ने वाले यदि उर्दू भी पढ़ें तो अच्छा है। यद्यपि हिन्दी के विद्वान् उर्दू से बहुधा अभिज्ञ रहते हैं फिर भी सम्भव है कि भविष्य में उर्दू के प्रति उन में उदासीनता आ जाये। यह न होना चाहिए। हम जानते हैं कि उर्दू और फ़ारसी के विद्वान् ऐसे बहुत कम हैं जिन को हिन्दी का ज्ञान है। उन में थोड़े ही सज्जन ऐसे हैं जो देवनागरी लिपि से भी परिचित हैं। इस असहिष्णुता और अनुदारता और अज्ञान का अनुकरण हिन्दी विद्वानों को नहीं करना चाहिए। उर्दू का जन्म इसी देश में हुआ, इस को इसी देश के निवासी पढ़ते हैं और लिखते हैं, आरम्भ में

इस के लिखने वाले हिन्दी शब्दों का व्यवहार करते थे, हिन्दी छन्दों में रचना करते थे, और उर्दू को हिन्दी का एक अपर रूप समझते थे। काल-क्रम से उर्दू अब एक एतद्देशीय भाषा नहीं रही है। इसका समस्त वाता-वरण अब विदेशीय है। परन्तु फिर भी इस में बहुत सी विशेषतायें हैं जो प्रशंसनीय हैं। उर्दू गद्य बहुत परिमार्जित है, उर्दू काव्य बहुत सरस है, और इस के अध्ययन से हिन्दी लिखने वाले लाभ उठा सकते हैं।

विश्वविद्यालयों में हिन्दी विभाग बहुत काम कर सकता है। हिन्दी भाषा और साहित्य का अनुशीलन तो इस का प्रधान कर्त्तव्य है ही और हिन्दी साहित्य की खोज और प्राचीन पुस्तकों का संग्रह और संरक्षण भी इस का एक मुख्य कर्त्तव्य है। परन्तु और विभागों और विषयों के अध्यापकों को भी इस से सहायता मिलनी चाहिए। अब वह दिन दूर नहीं है जब प्रत्येक विषय का अध्यापन देशीय भाषा द्वारा होगा। इस प्रान्त में शिक्षा का माध्यम हिन्दी उर्दू सभी कक्षाओं में हो यह सर्वसम्मति से स्वीकृत हो रहा है। ऐसी स्थिति में हिन्दी और उर्दू विभागों को चाहिए कि केवल अपने साहित्य विशेष के अध्यापन से ही सन्तुष्ट न रहें। और विषयों पर हिन्दी और उर्दू की ऐसी पुस्तकें प्रकाशित कराई जावें जो उच्चतम कक्षाओं में पढ़ाई जावें और अध्यापकों को इन भाषाओं द्वारा शिक्षा देने की योग्यता हो। मैं चाहता हूँ कि हिन्दी और उर्दू समितियों में इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, दर्शन, कृषिशास्त्र, रसायन, इत्यादि विषयों पर व्याख्यान हों और प्रबन्ध पढ़े जायें। यह कर्त्तव्य न विभागों का है कि वे प्रमाणित कर दें कि सरल सुगम भाषा में गूढ़ से गूढ़ अर्वाचीन वैज्ञा-निक विषयों पर हिन्दी और उर्दू में शिक्षा दी जा सकती है।

आप के विद्यार्थी भिन्न-भिन्न प्रान्तों और जनपदों से आते हैं। उन की सहायता से आप अपने साहित्य का बहुत बड़ा संग्रह इकट्ठा कर सकते हैं। आप का ध्यान मैं तीन संस्थाओं की ओर आकर्षित करता हूँ, जहाँ बहुत अच्छा काम हो रहा है। बुन्देलखंड साहित्यमंडल पंडित बनारसी-

दास चतुर्वेदी के नेतृत्व में बुन्देलखंड के ग्राम्यगीत, कहानियों और कहावतों का सुन्दर संग्रह कर रहा है। राजस्थान के गीतों का भी संग्रह हो रहा है। ब्रज-साहित्य मंडल से भी इस प्रकार का यत्न हो रहा है। नई दिल्ली की हिन्दीसभा के सदस्यों से मुझे यह जानकर सन्तोष हुआ कि वहाँ भी प्रचलित हिन्दी गानों का संग्रह हो रहा है। मेरा तो विश्वास है कि अभी कई वर्ष तक यह काम होता रहे तब भी समस्त साहित्यिक धन एकत्र करना सुलभ नहीं है। सामग्री प्रचुर है, काम करने वालों की कमी है। अवध में एक साहित्य समिति यदि यह काम हाथ में ले तो अवधी गानों और कहावतों का कितना अच्छा संग्रह तैयार हो सकता है! पूरब के प्रान्त में, जौनपुर, आज़म गढ़, ग़ाज़ीपुर, बलिया में इस प्रकार का संग्रह होना चाहिए। पश्चिम के गाँवों में भी यह काम होना चाहिए। क्या ही अच्छा हो यदि हिन्दी का प्रत्येक विद्यार्थी ग्रीष्मावकाश में अपनी जन्म भूमि से प्रतिवर्ष कम से कम बीस गीतों का संग्रह करके अपने विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में रख दे! ये गीत किस अवसर पर गाये जाते हैं, इन का रचयिता कौन है, इन में अप्रचलित शब्दों का अर्थ क्या है, इत्यादि विषयों के सम्बन्ध में टिप्पणी हो तो और भी अच्छा हो। प्रत्येक प्रान्त में ऐसे बहुत से शब्द प्रचलित हैं जिन का व्यवहार और प्रान्तों में नहीं होता है; ऐसे शब्दों का एक संग्रह हिन्दी विभाग से प्रकाशित होना चाहिए। यह काम ऐसा है कि इस में धन की अधिक आवश्यकता नहीं। आवश्यकता है उत्साह की, अपनी भाषा के प्रति अभिमान की।

यद्यपि हमारे विश्वविद्यालयों में अब तक अँग्रेज़ी का प्राधान्य रहा है, फिर भी विश्वविद्यालयों से और विश्वविद्यालयों में शिक्षित सज्जनों से हिन्दी की कम सेवा नहीं हुई है। औक्सफ़ोर्ड और केम्ब्रिज पाँच सौ वर्ष तक विविध विषयों में शिक्षा देती रहीं; संस्कृत और अरबी की शिक्षा का वहाँ प्रबन्ध था; लैटिन, ग्रीक, हिब्रू, फ्रेंच, जर्मन, इत्यादि भाषायें

पढ़ाई जाती थीं; परन्तु उन की मातृभाषा, अँग्रेज़ी का अध्ययन बीसवीं शताब्दी में ही आरम्भ हुआ। यह स्मरण रखते हुए हमें सन्तोष होना चाहिए कि भारतवर्ष में मातृभाषा का अधिकार और स्वत्व शीघ्र ही स्थापित हो गया है। अब इन की उन्नति अवश्यम्भावी है। इन की गति रुक नहीं सकती है। कुछ दिन हुए मैं काश्मीर में वेरीनाग गया हुआ था। वहाँ कुछ कुछ बुद्बुद् देखा—बहुत सुन्दर और रमणीक, परन्तु सूक्ष्म। आगे चल कर यही एक नदी के रूप में परिवर्त्तित हुए विमल जल, शान्त, स्थिर। फिर यही नदी तीव्र वेग से चट्टानों को रगड़ती हुई, अतुल तेज से बढ़ती गई, फैलती गई, खेतों को सींचती गई। अन्त में यह समुद्र को पा कर, उस की गम्भीरता, बहुनीरता, तरङ्गिता में लीन हो गई। हिन्दी का तरङ्ग, हिन्दी का वेग बढ़ता रहेगा और विश्व साहित्य में लीन होने पर भी हिन्दी अपना सुन्दर भव्य शिव रूप सुरक्षित रक्खेगी।

*

हिन्दी साहित्य के कुछ प्रश्न[1]

सज्जनो !

सभापति का स्थान मुझे दे कर सम्मेलन के अधिकारियों ने मेरा सम्मान किया है, मैं उन का आभारी हूँ। राष्ट्रभाषा की जो कुछ सेवा मैं कर सकूँगा उस में आप के सहयोग की आवश्यकता है। आप के उद्यम, आप के उत्साह, आप की कार्यपटुता पर राष्ट्रभाषा की उन्नति निर्भर है। इस प्रान्त में राष्ट्रभाषा का प्रश्न कठिन नही है। यहाँ की भाषा तो हिन्दी है ही। परन्तु यहाँ की मातृभाषा हिन्दी है इस कारण राष्ट्रभाषा और अन्य प्रान्त की भाषाओं के प्रति आप का कर्त्तव्य उत्तर-दायित्वपूर्ण है।

हिन्दी-जगत् में जनपदीय भाषाओं के सम्बन्ध में बहुधा चर्चा हुआ करती है। भारतवर्ष एक बहुत बड़ा देश है। और इस में अनेक भाषाएँ सदा से प्रचलित हैं। इतनी भाषाओं का रहना और इन सब का हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानना महत्त्व की बात है। कई भाषाएँ तो संस्कृत से अपनी तुलना करती हैं। कई में उच्च कोटि का साहित्य है। सैकड़ों वर्ष से इन में साहित्य की रचना होती आई है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की नीति प्रान्तीय भाषाओं के विरुद्ध नहीं है। परन्तु विवाद यों खड़ा हुआ है कि हिन्दी की कुछ सन्निकट भाषाएँ हैं जिन से स्वातन्त्र्य की आशङ्का है। पूछा जाता है कि क्या बुन्देलखंडी, अवधी, राजस्थानी, ब्रजभाषा

---

[1] संयुक्त प्रांतीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के छठवें (शिकोहाबाद) अधिवेशन (२०,२१ अप्रैल, १९४६) में सभापति के पद से दिया गया भाषण।

हिन्दी से भिन्न है और क्या इन के प्रोत्साहन से हिन्दी की क्षति नही होगी ? इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर यह है कि प्रत्येक व्यक्ति का यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि वह अपनी मातृभाषा का अध्ययन करे और इसी मे उस की प्रारम्भिक शिक्षा हो। मातृभाषा प्रारम्भिक शिक्षा का माध्यम हो, इस विचार से सभी शिक्षक सहमत होंगे। आजकल की शिक्षा-प्रणाली में इस सुधार की सब से बड़ी आवश्यकता है। प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने पर किस भाषा द्वारा शिक्षण हो, यह प्रश्न दूसरा है। मेरी सम्मति यह है कि हिन्दी प्रान्तों में हिन्दी—राष्ट्रभाषा के रूप में—शिक्षा का माध्यम हो। प्रारम्भिक शिक्षा मातृभाषा द्वारा पा लेने पर विद्यार्थी को राष्ट्रभाषा सीखने अथवा राष्ट्रभाषा द्वारा सीखने में कठिनता नही होगी। इस पद्धति से मातृभाषाओं की रक्षा के साथ-साथ राष्ट्रभाषा का भी हित है। किसी प्रान्त के निवासी के मन में यह आशङ्का उत्पन्न न होगी कि उस की मातृभाषा का लोप होने वाला है। और इन में से कई भाषाएँ ऐसी है जिन में अच्छा साहित्य भी है। हिन्दी का जो रूप अब प्रचलित है वह कुछ थोड़े भाग को छोड़ कर कहीं के निवासियों की मातृभाषा नहीं है। परन्तु साहित्यिक और राजनीतिक क्षेत्र में यह इतना व्यवहार में है, सत्तर वर्ष से इस का इतना प्रचार हो गया है और भारतवर्ष की भाषाओं में इस की इतनी प्रतिष्ठा हो गई है कि इस को सहज ही राष्ट्रभाषा का पद मिल गया है। राष्ट्रभाषा में ही दूसरी और उच्च श्रेणी की शिक्षा होनी चाहिए, परन्तु साथ ही अन्य भाषाओं में भी साहित्य-रचना होती रहे यह वांछनीय है। उदाहरण-रूप में, ब्रज-साहित्य इतना सुन्दर है और ब्रजभाषा इतनी मधुर है कि इस साहित्य का भविष्य में अस्तित्व ही न रहे इस को कौन साहित्य-प्रेमी अङ्गीकार करेगा ? हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का कर्त्तव्य है कि इस साहित्य और इसी भाँति और साहित्य की भी उन्नति में सचेष्ट रहे।

राष्ट्रभाषा हिन्दी का स्वरूप वही होगा जिस में समस्त भारतवर्ष

के निवासी सुगमता से अपने विचारों को व्यक्त कर सकेंगे । इस देश की मुख्य भाषाओं में संस्कृत शब्दों का बाहुल्य है और संस्कृतमयी हिन्दी को ही सब प्रान्तों के रहने वाले अपनायेंगे । रही समस्या उर्दू की । यह समस्या तो केवल संयुक्त प्रान्त और पंजाब की समस्या है और यहाँ भी शहरों तक ही सीमित है । देहातों में तो सब की बोली एक ही है । यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि जहाँ तक सम्भव हो प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति हिन्दी और उर्दू दोनों पढ़े । उर्दू का साहित्य अच्छा है, उर्दू भाषा अच्छी है । उर्दू का ज्ञान होना उपकारक सिद्ध होगा । उर्दू एक बहुसंख्यक समाज की भाषा है । हिन्दी और उर्दू के ज्ञान से दोनों भाषाओं की वृद्धि हो सकती है । परन्तु यद्यपि प्रारम्भिक काल में उर्दू इस देश की यथार्थ भाषा थी और उर्दू के आदि कवियों ने इस देश की संस्कृति को सुरक्षित करने का प्रयास किया था, तथापि खेद के साथ कहना पड़ता है कि कालक्रम से उर्दू केवल फ़ारसी का एक अङ्ग हो गई और उर्दू साहित्य में भारतीय जीवन और भारतीय संस्कृति की कही झलक नहीं आती है । फिर भी उर्दू को भी उन्नति करने का अधिकार है और इस की गति को रोकना अनुचित है । हम इस की समृद्धि चाहते हैं, हम चाहते हैं कि यह भी फूले-फले । उर्दू से हमें द्वेष नही है । किसी साहित्य-रसिक को किसी भाषा अथवा साहित्य से द्वेष नहीं हो सकता ।

रही बात 'हिन्दुस्तानी' की । यह कौन भाषा है, कहाँ की है, किस की है ? इस का साहित्य कहाँ है ? इस भाषा में कौन लिखता है ? अर्थशास्त्र, राजनीति, विज्ञान, दर्शन, इत्यादि विषयों पर ग्रन्थ किस भाषा में लिखे जाते हैं ? हिन्दुस्तानी के गढ़ने का प्रयोजन क्या है ? प्रचलित भाषाओं को विकृत करना कौन-सी बुद्धिमानी है ? क्या हिन्दुस्तानी में भावुकता आ सकती है ? क्या इस में गूढ़ विषयों को व्यक्त करने की क्षमता है ? हिन्दुस्तानी के जो थोड़े से उदाहरण हम देख सके हैं उस को तो भद्दी उर्दू कहने में हम को संकोच नहीं है । उर्दू के वाक्य में हिन्दी के एक दो

शब्द रख देना भाषा शैली के साथ परिहास करना है। हिन्दुस्तानी आन्दोलन से हिन्दी संसार तो असन्तुष्ट है ही, उर्दू जगत् भी प्रसन्न नहीं है। उचित यही है कि हिन्दी और उर्दू दोनों की गति अविरुद्ध रहे।

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का कर्त्तव्य स्पष्ट है—हिन्दी भाषा का प्रचार और साहित्य की अभिवृद्धि करना। अन्य भाषाओं के प्रति उस को स्नेह है, सम्मान है। किसी से उस का विरोध नही है, किसी की उन्नति के मार्ग में बाधा नही डालता है। हिन्दी का प्रचार अब तक अच्छा हुआ है, परन्तु और अधिक यत्न अपेक्षित है। समाचारपत्रों और मासिक-पत्रो को सहायता और मिलनी चाहिए। इनकी ग्राहक-संख्या पर्याप्त नही है। हिन्दी पढ़नेवालों को चाहिए कि हिन्दी-पत्रों के ग्राहक बनें। साथ ही पत्रों के संचालकों का कर्त्तव्य है कि वे अपने पत्रों को इस योग्य बनावें कि किसी और भाषा के पत्रों के पढ़ने की आवश्यकता न रहे। हिन्दी के बहुत कम दैनिक-पत्र ऐसे है जिनमें समस्त ससार के समाचार उसी दिन छपते हों जिस दिन अँगरेज़ी पत्रों में उन का प्रकाशन होता है। समाचार-पत्रों की भाषा में भी संशोधन होना चाहिए। सरल से सरल भाषा का इन में प्रयोग होना चाहिए, जिसे सर्वसाधारण समझ सके, जिस से जनता प्रभावित हो सके। अँगरेज़ी शब्दों और वाक्यों का अविकल अनुवाद बहुधा हास्यास्पद होता है। उदाहरणार्थ, इस वाक्य को लीजिए—"दिल्ली के ग्वालों ने असेम्बली-भवन के सामने प्रदर्शन किया।" अथवा "कामाथिनी—एक अध्ययन।" "उस दिन राष्ट्रपति ने बताया"—इन शब्दों से एक लेख आरम्भ किया गया है, किस दिन ? इस प्रकार का अनुवाद अनावश्यक है। फिर पत्रों में पढ़ने की सामग्री और होनी चाहिए। रुचि भिन्न है और अनेक रुचियों की तुष्टि पर ध्यान देना उचित है। सम्पादकों को यह भी चाहिए कि अश्लील विज्ञापनों को प्रकाशित न करें। और जहाँ तक सम्भव हो, संवाद-दाता ऐसे नियुक्त करें जो विश्वसनीय हों और यथाशक्ति पक्षपात-रहित

हों । हिन्दी प्रचार का एक प्रधान अङ्ग यह भी है कि प्रत्येक विषय पर प्रत्येक श्रेणी के विद्यार्थियों के उपयुक्त ग्रन्थ लिखे जाएँ । पुस्तकों के प्रणेताओं को उचित पारिश्रमिक मिलना चाहिए । अब समय आ गया है कि मौलिक पुस्तकों की रचना हो, अनुवादों से काम नहीं चल सकता । ग्रन्थों के प्रकाशित हो जाने पर उच्च कोटि की शिक्षा भी हिन्दी द्वारा दी जा सकेगी । इस का ध्यान रहे कि उर्दू में भी इस प्रान्त में शिक्षा दी जायगी और एक ही विषय का अध्यापन दो भाषाओं में, भिन्न-भिन्न कक्षाओं में, करना पड़ेगा । सम्भव है कुछ विद्यार्थियों के लिए कुछ दिनों तक अँगरेज़ी का भी सहारा लेना पड़े । इन सब से व्यय बढ़ जाने की सम्भावना है, परन्तु देशीय भाषा में शिक्षा मे इतना लाभ होगा कि यह व्यय खलना नहीं चाहिए । विश्वविद्यालयों और अन्य साहित्यिक संस्थाओं को आपस में मिल कर पारिभाषिक शब्दावली प्रकाशित करनी चाहिए और ऐसे विषयों पर ग्रन्थ लिखवाने चाहिए जिन का उपयोग शिक्षा-विभाग कर सके ।

बहुधा देखा जाता है कि हम यदि अँगरेज़ से मिलते हैं तो अँगरेज़ी में उस से बातें करते हैं, रावलपिंडी के निवासी से मिलते है तो उर्दू में बात-चीत करते है; परन्तु बंगाल, महाराष्ट्र अथवा गुजरात प्रान्त के रहनेवालों से बंगाली, मराठी अथवा गुजराती में बात नहीं करते हैं । अँगरेज़ हमें 'गुड मौर्निङ्ग' कहता है, उर्दू वाले 'सलाम वाले कुम' अथवा 'आदाबअर्ज़' कहते हैं, परन्तु हम इन्हें 'नमस्कार' वा 'नमस्ते' कहते हिचकते हैं । हम "पंडित साहब" कहे जाते है, पर हमें "मौलवी जी" कहते संकोच होता है । हमें अपनी भाषा के शब्दों का प्रयोग करते हुए आनन्द और गर्व होना चाहिए । जहाँ तक सम्भव हो, आपस की बात-चीत हमें शुद्ध हिन्दी में करनी चाहिए । जिस प्रकार की खिचड़ी बोली का हमें अभ्यास पड़ गया है उसे छोड़ना चाहिए । अभी कुछ दिनों से फ्रान्स की एक महिला प्रयाग में हिन्दी के अध्ययन के लिए आई. हुई है ।

वह लड़कियों के छात्रावास में भारतीय लड़कियों के साथ रहती है। हमारी लड़कियाँ जब एक दूसरे से बात करती हैं तो बहुत से अनावश्यक अँगरेजी शब्द व्यवहार में लाती है। इस से इस फ्रेंच महिला को आश्चर्य होता है और उस का प्रभाव इतना अच्छा पड़ा है कि अब लड़कियाँ शुद्ध भाषा बोलने का यत्न करने लगी हैं।

साहित्य के विषय में मै केवल इतना निवेदन करूँगा कि लेखक पर किसी प्रकार का कृत्रिम नियंत्रण अनुचित और हानिकारक है। उच्च कोटि की कला मानव के हृदय का बाह्यरूप है और किसी के हृदय पर किस का अधिकार है ? कला मनुष्य की भावना से उत्पन्न होती है। भावना को वश में कौन ला सकता है ? कविता में चित्त का उत्साह, उमंग, वेदना, आनन्द, विषाद, सन्निहित रहता है, स्वप्नों की झलक मिलती है, भावों की विलक्षणता है, विचारों की विशालता है—इनको किसी 'वाद' में जकड़ देना भयावह है। क्षुद्र नदी की धारा तो रोकी जा सकती है, सागर पर आधिपत्य कैसा ?

कुछ वर्ष पहले मैंने 'सुहृद संघ' के अधिवेशन में ग्राम्यगीतों के सम्बन्ध में यह कहा था—"इन सरल पदों में देश की यथार्थ दशा वर्णित है, यहाँ की संस्कृति इन में संरक्षित है। सभ्यता तो बाह्य आडम्बर है; कल तुर्कों की थी, आज अँगरेज़ों की है। भारतीयता हमारे गाँव के रहने-वालों में है, जो शहरों के क्षणभंगुर आभूषणों से अपने स्वाभाविक रूप को छिपा नहीं चुके हैं, जिन में युगों से वेदना सहन करने की शक्ति है; जो सुख-दुख में, हर्ष-विषाद में, जगत्स्रष्टा को भूले नही हैं; जो वर्षा के आगमन से प्रसन्न होते हैं, जो खेतों में, जाड़े-गर्मी में, प्रकृतिदेवी के निकट अपना समय बिताते हैं। इन गानों में हम मनुष्य के जीवन के प्रत्येक दृश्य को देखते हैं। कन्या के ससुराल चले जाने पर माता के करुण स्वर सुनते हैं, पुत्र के जन्म पर माता-पिता के आनन्द की ध्वनि पाते हैं, खेतों के बह जाने पर हताश किसान के क्रन्दन, ब्याह के अवसर पर बधाई के गान,

गृहिणी के विरह की व्यथा, सन्तान की असामयिक मृत्यु पर मूक वेदना
—अर्थात् मानविक जीवन की नैसर्गिक कविता का रसास्वादन करते
है। ग़जलों और सिनेमा के गानों का इतना प्रभाव बढ़ रहा है कि बहुत
शीघ्र ग्राम्यगीतों के लोप हो जाने की आशंका है। इस साहित्यिक धन
को नष्ट न होने देना चाहिए।" इन प्रान्तों में, ब्रज, अवध, बुन्देलखंड
में, हमारे इस साहित्य का बहुत बड़ा भाण्डार अब भी है और आशा है
कि इस का महत्त्व सम्मेलन स्वीकार करेगा।

इधर कुछ दिनों से हमें यह आदेश मिलने लगा है कि प्रत्येक विद्यार्थी
को दो लिपियाँ सीखना आवश्यक होना चाहिए—हिन्दी लिपि और उर्दू
लिपि। हिन्दी लिपि और उर्दू लिपि कोई लिपि नही है। नागरी लिपि
और फ़ारसी लिपि है। देश की और प्रधान लिपियाँ ये हैं—बॅगला,
गुजराती, गुरुमुखी, तामिल, तेलगू, कन्नाड, मलयलम। इनमें देवनागरी
की ही प्रधानता है। फिर यदि नागरी के साथ कोई और लिपि भी सीख
सकें तो अच्छा अवश्य है। परन्तु हमारी लिपि वैज्ञानिक दृष्टि से इतनी
शुद्ध और व्यवहारिक दृष्टि से इतनी सरल है कि इसका त्याग हमारे
लिए अनावश्यक, अहितकर और असम्भव है। प्रन्येक प्रान्त में नागरी
और फ़ारसी दोनों लिपियों को अनिवार्य बनाना, बच्चे पर बहुत बड़ा
बोझ डालना है। कुछ विद्वानों का मत है कि रोमन लिपि का ही प्रचार
होना चाहिए। मै इससे सहमत नहीं हूँ। रोमन में इतनी त्रुटियाँ है कि हम
अपनी भाषा को इस लिपि में लिख कर अपने शब्दों का शुद्ध उच्चारण नहीं
कर सकेंगे। देवनागरी की विशिष्टता यह है कि जैसी यह लिखी जाती
है वैसा ही इस का उच्चारण होता है। यह विशेषता न रोमन में है
और न फ़ारसी में।

उच्च कोटि के साहित्य की रचना कठिन और परिश्रमसाध्य है।
हम यदि चाहते हैं कि हमारे साहित्य का स्थान विश्वसाहित्य में ऊँचा
हो तो हमारा कर्त्तव्य है कि हम इस के लिए यथासाध्य परिश्रम करें।

आचार्य क्षेमेन्द्र ने कवि के लिए इस प्रकार की शिक्षा-पद्धति बताई है—छन्दोबद्ध-पद्य की रचना का अभ्यास, काव्यग्रन्थों का अनुशीलन, समस्या-पूर्ति, कवियों का सहवास, सज्जनमैत्री, नाटकों का अभिनय देखना, संगीत का ज्ञान, लोकाचार का ज्ञान, आख्यायिका और इतिहास का अनुशीलन, सुन्दर चित्रों का निरीक्षण, वीरों के युद्ध का निरीक्षण, जनता के वार्तालाप को ध्यान से सुनना, श्मशानों और जंगलों में घूमना, तपस्वियों की सेवा, एकान्तवास, स्निग्ध भोजन, रात्रिशेष में जागना, प्रतिभा और स्मरणशक्ति का उद्‌बोधन, जन्तुओं के स्वभाव का परि-चय, पर्वत, समुद्र, नदी का ज्ञान, पराधीनता से बचना, विद्याभवनों में जाना, अपनी उन्नति की चिन्ता न करना, आत्मप्रशंसा न करना, किस समय और किन श्रोताओं के सामने कैसी कविता पढ़ी जाय इस का ज्ञान, नये भावों और विचारों के लिए प्रयत्न, ऐसी रचना करना जो सुगम हो। इस विशद पद्धति की आवश्यकता साहित्य के प्रत्येक अंग में है। इस प्रकार से शिक्षित, ऐसे ध्येय को सामने रखनेवाला साहित्यकार अपनी रचना को उच्च श्रेणी तक पहुँचा सकता है, यदि उसमें प्रतिभा है। देवताओं की भाँति लेखक भी सदा युवा रहता है। उसमें तेज और उत्साह रहता है, आशा रहती है और तरङ्ग की गति रहती है। ऐसे साहित्यकार हम में हैं और रहेंगे—हिन्दी-साहित्य का भविष्य उज्ज्वल है :—

रे मन साहसी साहस राख सुसाहस सौं सब जेर फिरैंगे।
त्यौं पदमाकर या सुख में दुःख त्यौं दुख में सुख फेर फिरैंगे॥

हिन्दी कविता का विकास[1]

(१)

काव्य खेल नहीं है। कवि होना सुलभ नहीं है। काव्य का मर्म्म समझना भी कठिन है। कितने श्रम से, कितने अभ्यास से, किस लोकोत्तर प्रतिभा के प्रताप से, कविता की योग्यता आती है; किस-किस शास्त्र का अध्ययन आवश्यक होता है; किन साधनाओं का प्रयोजन होता है—इस का अनुमान हम पुरानी पुस्तकों से करते हैं। काव्य का अर्थ क्या है—कविता के गुण क्या हैं—इन विषयों पर साहित्य के महारथियों ने युगों से अपने विचार प्रकट करने का प्रयास किया है, तथापि अब भी ये विषय विवादग्रस्त है। इन साहित्यिक समस्याओं के खंडन-मंडन में, आलोचन में, जितना क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, पक्षपात प्रदर्शित होता है, उस की तुलना केवल धार्मिक अथवा राजनैतिक वादविवाद से ही की जा सकती है। हमारे प्राचीन शास्त्रकारों ने इस विषय की बड़ी सुन्दर विवेचना की है। "पुराण्णमित्येव न साधु सर्वम", सत्य है—तथापि यदि हम विचार करें तो देखेंगे कि कविता—उत्तम कविता—काल से सीमित नहीं है—उस का रूप नित्य मनोरम है, समय व्यतीत होने पर उस का माधुर्य्य और बढ़ जाता है। इंगलैंड का विख्यात कवि और उपन्यास—लेखक टौमस हार्डी कहा करता था कि कवि की रचना में विचार तो उसके युग के, परन्तु भाव सर्वकालीन होते है।

क्षेमेन्द्र के "कविकण्ठाभरण" में कवित्व-शिक्षा के, विषय में बड़ी

---

[1] डा० झा द्वारा सम्पादित "पद्य-पराग" (प्रयाग, १९३६) में उनकी लिखी हुई भूमिका।

उपादेय बातें लिखी है। इस आचार्य के मत से कवि-शिक्षा पाँच प्रकार की होती है—अकवेः कवित्वाप्तिः, शिक्षा प्राप्पगिरः कवेः, चमत्कृतिस्य शिक्षाप्तौ, गुणदोषोदगतिः, परिचयप्राप्तिः कवि शिक्षा कितनी विस्तृत है इस का अनुमान हमें यों होगा कि कवि के लिए इतनी बातें आवश्यक हैं—गणेश की पूजा, छन्दोबद्ध पद्य की रचना का अभ्यास, अन्य कवियों के ग्रन्थों का अनुशीलन, समस्यापूर्ति, कवियों का सहवास, सज्जनों से मैत्री, चित्त प्रसन्न रखना, नाटकों का अभिनय देखना, गान में मग्न रहना, लोकाचार का ज्ञान, आख्यायिका और इतिहास का अनुशीलन, सुन्दर चित्रों का निरीक्षण, वीरों के युद्ध का निरीक्षण, सामान्य जनता के वार्तालाप को ध्यान से सुनना, श्मशानों और जंगलों में घूमना, तपस्वियों की सेवा, एकान्तवास, स्निग्धभोजन, रात्रिशेष में जागना, प्रतिभा और स्मरणशक्ति का उदबोधन, अधिक सर्दी और अधिक गर्मी से बचना जन्तुओं के स्वभाव का परिचय, समुद्र, पर्वत, नदी, इत्यादि का ज्ञान, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र इत्यादि का ज्ञान, पराधीनता से बचना, विद्याशालाओं में जाना, अपनी उन्नति की चिन्ता न करना, आत्म-प्रशंसा न करना, किस समय और किन श्रोताओं के सामने कैसा काव्य पढ़ा जाय इस का ज्ञान, ग्राम्यभाषा का प्रयोग न करना, नये-नये भावों और विचारों के लिए प्रयत्न, ऐसे पदों का प्रयोग करना जो सुलभता से समझ में आ जायें।

कविता किन विषयों पर की जाय इस पर भी प्राचीन आचार्यों के बड़े ही गूढ़ सिद्धान्त हैं। सोलह काव्य-विषयक मूल है—श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, मीमांसा और न्याय-वैशेषिक, समयविद्या, अर्थशास्त्र, नाट्यशास्त्र, कामसूत्र, लौकिक, कविकल्पित कथा, प्रकीर्णक, उचित संयोग, योक्तृसंयोग, उत्पाद्यसंयोग, संयोग विकार।

कवि चार प्रकार के होते हैं—जो एकान्तवास में, दत्तचित्त हो कर, अन्यमनस्क हो कर कविता करते हैं—जो स्वामी की आज्ञा से कविता करते हैं—और जो अवसर विशेष पर प्रस्तुत विषय पर काव्य करते हैं।

कवियों के आठ भेद हैं—रचना कवि, जिन के काव्य में शब्द विन्यास रहता है—शब्दकवि, जो संज्ञा तथा क्रिया का अधिक प्रयोग करते हैं—अर्थकवि, जिन में अर्थ का चमत्कार होता है— अलङ्कार-कवि, जिन की रचनाओं में अलङ्कार भरे होते हैं—रसकवि, जिन के यहाँ रसों का प्राचुर्य रहता है—मार्गकवि—जिन के काव्य में मार्ग अथवा रीति का विन्यास रहता है—और शास्त्रार्थकवि, जिन्हें शास्त्र के तत्वों को सरसरूप में प्रकट करने की शक्ति है।

(२)

इन आचार्यों के सिद्धान्तों का उल्लेख इस लिए किया गया है कि ज्ञात हो जाय कि कवि होना सुलभ नही है। दार्शनिकों, वैज्ञानिकों, व्यापारियों, औद्योगिकों का बहुधा विश्वास है कि काव्य बच्चों का खेल है और कवि समाज में आदर का पात्र नहीं है। ग्रीक के प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो ने तो अपने आदर्श राज्य में कवि को कोई भी स्थान नही दिया है। कवि समाज का क्या उपकार करता है ? कविता का जीवन में प्रयोजन क्या है ? कविता यदि कोई न करे तो क्षति क्या ? संसार भर की कविता यदि लुप्त हो जाय तो क्या हानि है ? महल और मन्दिर यदि नाश कर दिये जावें तो उन के फिर बनवाने में धन और परिश्रम और समय का व्यय होगा। वैज्ञानिक आविष्कार यदि नष्ट हो जावें तो उन के फिर से बनवाने की योग्यता सम्भव है भावी सन्तान में न हो। योद्धा बिना देश की रक्षा नही हो सकती, पुरोहित बिना बहुत से धार्मिक कर्म सम्पन्न नहीं हो सकते, राजनैतिक नेता यदि न रहें तो जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो सकती। परन्तु कविता अथवा कवि के बिना किस का कौन सा काम रुका रह जायगा ?

इन प्रश्नों का केवल एक उत्तर है—कविता का लुप्त हो जाना असम्भव है, हमारी अन्तरात्मा कवितामय है, मनुष्यमात्र का जीवन काव्य

है, पत्तियों के हिलने में, कोयल के गाने में, एकान्ततारा की ज्योति में, नदी की तरङ्ग में, तड़ाग की गम्भीरता में, हिमालय के शिखर की द्रुमता में, विद्युत की आभा में, मृग के करुण नयनों में, शिशु के टूटे शब्दों में, कान्ता की सरलता में, पिता के वात्सल्य में, माता की ममता में—कविता का वास है। जब वृक्ष की डालें पृथ्वी की ओर झुकती है उन के झुकने में कविता है। जब मयूर वर्षा—समय नृत्य करता है, जब मनुष्य अज्ञात अज्ञेय ईश्वर की आराधना करता है, जब पुरुष स्त्री से अपना हृदय अर्पित करते हुए असंगत वार्तालाप करता है, जब प्रासाद में, गुफा में, सौरभ में, शब्द में, हृदय में मनुष्य ईश्वर को पाता है, जब संसार में मनुष्य से बड़ी वस्तु अपने भाव और अपने विचार को समझता है, तब कविता की उत्पत्ति होती है। लोकोत्तर आह्लाद हृदयद्रांवी संताप, आकाश-भेदी आशा, आजीवन स्नेह—इन से कविता का गूढ़ सम्बन्ध है। प्रति-दिन पृथ्वी पर, आकाश में, हृदय में, क्रिया में, विचार में कविता विद्यमान है। यह समझना भूल है कि कवि स्वप्नों के ही संसार में रहता है। हमारे साथ, हमारे नित्य के जीवन में, हमारे हर काम में, एकान्त में, समूह में, कविता है। किस की शक्ति है कि कविता को मानुषिक जीवन से बाहर करे ?

(३)

कविताएँ कई श्रेणी की होती हैं—कवि के अनेक भेद हैं। उच्च-कोटि की कविता की पहिचान क्या है ? यदि पद्य पढ़ते ही हृदय द्रवित हो जाय तो कविता उत्तम है। यदि पद्य कई बार पढ़ने की आवश्यकता हो और आशय समझने में कठिनाई हो तो सब गुण रहते हुए भी उसे हम उच्चकोटि की कविता नहीं कहेंगे। पद्य में यदि कोई ऐसा गुण हो जिस से, हमारे बिना प्रयत्न किए हुए ही, वह हमें स्मरण हो जावे तो हृदय में और स्मृति में उस का अटल वास हो जाता है। ऐसी कविता काल और समय की अपेक्षा नहीं करती।

तू दयाल, दीन हूँ, तू दानि हौं भिखारी।
हूँ प्रसिद्ध पातकी, तू पाप पुंज हारी ॥
नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मोसौं ॥
मो समान आरत नहि आरत-हर तोसौं ॥
तोहि मोहि नातो अनेक मानिवे जो भावै।
त्यों त्यों "तुलसी" कृपाल चरण शरण आवै ॥

तुलसी के यह पद हैं, तीन सौ वर्ष पूर्व ये लिखे गये, परन्तु आज भी ये शब्द कितने सुन्दर हैं, भाव कैसा हृदयङ्गम है। विपत्ति के समय अब भी प्रार्थना करते समय यही शब्द सहसा स्मरण होते हैं।

जब बिहारीलाल ये दोहे लिखते हैं तो केवल १७०० संवत के भाव का नहीं, परन्तु सदा के भाव का वर्णन करते हैं, और आज भी हमारे चित्त पर इन का वही प्रभाव है जो दो सौ वर्ष पूर्व के लोगों के चित्त में था ;—

कागज पर लिखत न बनत, कहत सँदेस लजात।
कहिहै सब तेरो हियो, मेरे हिय की बात ॥
नैना नेकु न मानहीं, कितो कहौं समझाय ॥
तन मन सारे हू हँसे, तिन सों कहा बसात ॥
जब जब वे सुध कीजिए, तब तब सब सुधि जाहि।
आँखिन आँख लगी रहै, आँखैं लागति नाहिं ॥

इसी प्रकार से नीचे उद्धृत पदों में कोई ऐसी बात नहीं है जिन से उन के सब युग में हृदयग्राही होने में बाधा हो।

नैना भये अनाथ हमारे।
मदन गोपाल वहाँ ले सजनी सुनियत दूरि सिधारे ॥
वे जलसर हम मीन बापुरी कैसे जीवहिं किनारे।
हम चातक चकोर श्यामघन बदन सुधा निधि प्यारे ॥

मधुबन बसत आस दरसन की जोइ नैन मग हारे।
"सूरज" श्याम करी पिय ऐसी मृतकहु ते पुनि मारे ।।

(सूरदास)

जब हरि मुरली अधर धरत।
खग मोहे मृगयूथ भुलाने निरखि मदन छबि छरत।
पशु मोहे सुरभीहु थकी तृण दंतहि टेक धरत।
शुक सनकादि सकल मन मोहे ध्यानिउ ध्यान बहत।
"सूरदास" भाग्य है तिनके जो या सुखहि लहत ।।

(सूरदास)

रे मन साहसी साहस राख सुसाहस सो सब जेर फिरैंगे।
त्यों पदमाकर या सुख मे दुख त्यों दुख में सुख फेर फिरैंगे ।।
वैसे ही वेणु बजावत श्याम सुनाय हमारे हू टेर फिरैंगे।
एका दिना नहि एक दिना कबहूँ फिर वे दिन फेर फिरैंगे ।।

(पदमाकर)

इन दुखियान को न सुख सपने हूँ मिल्यो
यों ही सदा व्याकुल विकल अकुलायँगी।
प्यारे हरिचन्द जू की बीती जानि औध जोपै
जैहैं प्रान तऊ ये तो साथ न समायँगी ।।
देख्यो एक बारहू न नैन भरि तोहि याते
जौन जौन लोक जैहै तहीं पछितायँगी।
बिना प्रान प्यारे भये दरस तिहारे हाय
देखि लीजौ आँखैं ये खुली ही रहि जायँगी ।।

(हरिश्चन्द्र)

जिय पै जु होइ अधिकार तो विचार कीजै
लोक लाज भलो बुरो भले निरधारियै।

नैन श्रौन कर पग सबै परबस भये
उतै चलि जात इन्हैं कैसे कै सम्हारियै ॥
'हरीचन्द' भई सब भाँति सो पराई हम
इन्हैं ज्ञान कहि कहो कैसे कै निवारियै ।
मन मैं रहै जो ताहि दीजियै बिसारि मन
आपै बसै जा मे ताहि कैसे कै बिसारियै ॥
(हरिश्चन्द्र)

श्याम घटा लै धावहु छावहु नभहि दबाय ।
दिव्य छटा फैलावहु, लावहु दलहि सजाय ॥
घोरहु घुमडि घमकहु, घेरहु दसहु दिसान ।
दामिनि द्रुतहि दमकहु धारहु धनुस निसान ॥
(श्रीधर पाठक)

मुखरित करता जो सद्म को था शुकों सा,
कलरव करता था जो खगो सा वनों मे ।
सुध्वनित पिक लों जो बाटिका था बनाता,
वह बहु विधि कंठों का विधाता कहाँ है ।
(अयोध्यासिह उपाध्याय)

(४)

इन पदों में कविता का स्वर सुन पड़ता है—इस की ध्वनि बहुत समय तक कानों में रहती है । हिन्दी कविता जिस गति से चल रही थी, जिस मार्ग का अनुकरण कर रही थी, जिन शाखाओं और शैलियो मे विभक्त थी—इन में अब बड़ा परिवर्तन हो गया है । विचारक्षेत्र अधिक विस्तृत हो गया है, नवीन विचारधाराओं का प्रभाव पड़ने लगा है । अब की हिन्दी कविता देशान्तर के कवियों की कृति से बहुत कुछ उपकृत है—विशेषकर अँगरेजी और फ्रेंच कवि—आदर्श रूप हो गए हैं । बँगला का भी प्रभाव कम नही है । और इस में हानि भी क्या है ?

जीवित भाषा, सजीव साहित्य का तो लक्षण ही यही है कि जहाँ से भी हो गुण ग्रहण करे। वर्त्तमान काल में संस्कृत छन्दों का प्रयोग, अतुकान्त छन्दों का प्रयोग, नये वृत्तों की रचना, बोलचाल की भाषा का प्रयोग, कोमल मधुर परन्तु क्लिष्ट संस्कृत शब्दों का प्रयोग, व्याकरण के नियमों का उल्लंघन,—ये कुछ उल्लेखनीय काव्यकला सम्बन्धी विशेषतायें हैं। काव्य विषय भी पहले की अपेक्षा भिन्न हैं। नख-शिख वर्णन, नृप प्रशंसा, ईश्वरस्तुति, कृष्णलीला, नायक नायिका भेद, इन प्राचीन-कवि प्रिय विषयों पर अब बहुत कम कविता लिखी जाती है। यह कारण नहीं है कि इन विषयों से काव्यभाव लुप्त हो गए हों—सार, तत्त्व, मूल तो अब भी वही है, बाह्य-रूप भिन्न है।

ब्रजभाषा, जो लगभग तीन सौ वर्ष तक हिन्दी कविता की प्रधान भाषा थी, अपनी प्रधानता खो रही है। पश्चिमीय प्रान्त के हिन्दी-प्रेमियों को ब्रजभाषा कृत्रिम मालूम होने लगी। फ़ारसी और उर्दू से प्रभावित हो कुछ विद्वानों ने ब्रजभाषा का विरोध करना प्रारम्भ किया, और पण्डित नाथूराम शंकर शर्मा, पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी, पण्डित श्रीधर पाठक और बाबू मैथिलीशरण गुप्त ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली को आसन देने में सफल हुए। इस में सन्देह नहीं कि खड़ी बोली ब्रजभाषा की अपेक्षा सामान्य जनता के लिए अधिक सरल सिद्ध हुई परन्तु साथ ही सैकड़ों वर्ष की चिरसंचित ब्रजभाषा की मधुर सांसर्गिक सम्पत्ति हाथों से जाती रही। कुछ अच्छे कवि—बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर और पण्डित सत्यनारायण—ब्रजभाषा के अनन्य भक्त बने रहे, किन्तु अब से ३५-४० वर्ष पूर्व के मुख्य कवियों ने खड़ी बोली ही की शरण ली। इस से हिन्दी की कुछ थोड़ी सी क्षति हुई, परन्तु लाभ अधिक हुआ—

किस तरह कुल की बड़ाई काम दे,
जो किसी में हो बड़प्पन की कसर

इस में कवितोचित माधुर्य तो नहीं है, पर साथ ही नीचे के पद की दुर्गमता भी नहीं है—

शोभित सुमनवारी सुमना सुमनवारी,
कौन हूँ सुमनवारी को नहीं निहारी है।

(५)

समसामयिक कवि किन विषयों पर कविता करते हैं इस का इस संग्रह को देखने से पता मिलता है—'मनोव्यथा', 'नाम तेरा', 'प्रभात किरण', 'नूरजहाँ', 'रास्ते का फूल', 'अतृप्त', 'पुष्प की अभिलाषा' 'बन्धन', 'कंकाल', 'स्वप्न से', 'उजड़ी बाटिका', 'स्मृतियाँ', 'बालापन', 'पग-ध्वनि'। इस में संशय नहीं कि हिन्दी कविता में वास्तविक काया-पलट हो रही है। कवि एक ओर तो संसार के, मनुष्य-जीवन के, जटिल प्रश्नों में उलझता है, दूसरी ओर स्थूल जगत से कोसों दूर भागता है। कुछ कवि तो ऐसे है जिन का हृदय दुख के क्रन्दन से द्रवीभूत हो गया है, केवल विषाद, विरह पीड़ा, के स्वर जिन को सुन पड़ते हैं, जिन की दृष्टि में मिलन का अन्त विरह है और हास्य की सीमा रुदन, कुछ ऐसे भी कवि हैं जिन्हें देश की दशा से अत्यन्त ग्लानि और शोक होता है, जो पराधीनता से मृत्यु को अच्छा समझते है, और जो अपने राग से देश-प्रेम और देशाभिमान के भाव जागृत करते हैं। कुछ और कवि हैं, जो संसार से अपना नाता नहीं जोड़ना चाहते हैं, जिन्हें बाह्यजगत शून्य और मिथ्या मालूम होता है, जो अपनी भावना के लोक में ही भ्रमण करते हैं। शरच्चन्द्र की ज्योति, हिमालय का युग, छाया, अन्ध गुफा, बाष्प, नीहार, इन में इन्हें संसार से हट कर, नरनारियों से दूर, शान्ति मिलती है, यथार्थ तत्त्व का अवलोकन होता है। इन सभी रूपों की कविता इस युग में हिन्दी में लिखी जा रही है।

राजनैतिक आन्दोलन और जागृति से जनता पर प्रभाव डालना

आवश्यक होने के कारण बहुत से कवियों ने साधारण बोलचाल का प्रयोग किया है और उन के भाव भी ऐसे हैं कि जिन में उत्तेजना हो, उत्साह हो, आशा और उमंग हो। देश की सेवा सब से बड़ी मेवा है—मातृभूमि स्वर्ग से भी बड़ी है। इस की उन्नति के लिए जितना परिश्रम किया जाय कम है, सर्वस्व त्याग करने को उद्यत रहना चाहिए। पृथ्वी मे उत्पन्न पुष्प की भी सर्वोच्च अभिलाषा यही है :—

चाह नहीं, मैं सुरबाला के गहनों में गूँथा जाऊँ,
चाह नहीं, प्रेमी-माला में बिंध, प्यारी को ललचाऊँ,
चाह नहीं, सम्राटों के शव पर हे हरि ! डाला जाऊँ,
चाह नहीं, देवों के शिर पर चढ़ूँ, भाग्य पर इठलाऊँ,

मुझे तोड़ लेना बनमाली,
उस पथ पर देना तुम फेंक
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने,
जिस पर जावें वीर अनेक।

हिमालय का ध्यान आने पर मातृभूमि का अतीत गौरव स्मरण हो आता है—

रे तपी ! आज तप का न काल ;
नवयुग शंख-ध्वनि जगा रही ,
तू जाग, जाग, मेरे विशाल।
मेरी जननी के हिम किरीट ,
मेरे भारत के दिव्य भाल !
नवयुग शंख-ध्वनि जगा रही ,
जागो नगपति ! जागो विशाल ।।

अपने भारतवर्ष में कवि को गौरव है, अपने को भारतीय समझकर धन्य मानता है—

भारतीय भव-भूति-भावन-विभूति पाइ,
भाव-मयी अपने अभावन हरति है।
अवलोकि अवलोकनीय-बहु-वैभव को,
काल-अनुकूल अनुकूलना करति है।
'हरिऔध' भारत को भुव-सिरमौर जानि,
भावना मैं विभु-सिरमौरता भरति है।
धारि धुर सुधरि समाज को सुधारति है,
धीर धरि जाति को उधारि उधरत है॥

(६)

कुछ इने गिने कवि अब भी प्राचीन शैली का, अनुकरण करते हैं और ब्रजभाषा में लिखते हैं। इन की संख्या दिनानुदिन कम हो रही है। यह खेद का विषय है। ब्रजभाषा में जो निधि है उसे हमें खोना नहीं चाहिए —इस में हमारे पूर्वजों की आशायें भरी हैं, उन का उच्छवास संचित है, उन की भावनायें सुरक्षित हैं। साहित्य की धारा का प्रभाव सहसा रोकना हितकर न होगा। और भी धाराएँ रहें अवश्य, नई शाखाएँ उत्पन्न हों, इस में क्षति नहीं। नूतनता जीवन का प्रमाण है। विद्रोह का पथ भी एक उन्नति और अभ्युत्थान का मार्ग है। परन्तु प्राचीन रीति का—फिर सुन्दर मधुर कोमल रीति का—सहसा तिरस्कार बुद्धिमान नहीं करते। अस्तु, ब्रजभाषा के इस युग के कवियों में सब से श्रेष्ठ बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर हैं। पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय, राय कृष्णदास, वियोगी हरि, पण्डित रमाशंकर शुक्ल भी ब्रजभाषा में कविता करते हैं। अब भी ब्रजभाषा में अच्छी कविता लिखी जाती है। हमें वादविवाद में रुचि नहीं है। ब्रजभाषा और खड़ी बोली के द्वन्द्वयुद्ध को देखने की इच्छा नहीं है, किसी एक योद्धा का पक्ष लेना स्वीकार नहीं है।

कर बिनु कैसे गाय दुहिहै हमरी वह,
पद बिनु कैसे नाचि थिरकि रिझाइ है।
कहै 'रत्नाकर' बदन-बिनु कैसैं चाखि,
माखन बजाइ बेनु गोधन गवाइ है।
देखि सुनि कैसैं दृग स्रवनि बिनाहीं हाय,
भोरे ब्रजवासिनि की बिपति बराइ है।
रावरौ अनूप कोऊ अलख अरूप ब्रह्म,
ऊधौ कहौ कौन धौं हमारे काम आइ है ॥
(रतनाकर)

रावरो रूप अपार महा यह नैन की नाव सों पार करैं क्यों ?
कोमल त्यों बरुनी पतवार, सनेह को भारि सँभारि सकैं क्यों ?
तापै अनेकन रन्ध्र रचे जिनसों जलपूर प्रताप भरैं क्यों ?
बूड़िहैं पै यह जानत हौं, नहिं जानहुँ पै कित जात चली क्यों ?
(रामप्रसाद त्रिपाठी)

हरि विपरीत सुभाव तिहारो।
बसति जदपि राधा गोरी नित, तऊ हृदय तुम कारो ॥
चाखत चोरि-चोरि मृदु माखन, पै हिय कठिन करारो,
सरस नाम घनश्याम नेह रस नहिं बरसावन हारो ॥
आँखि बचाय चलत तिनसों तू, जिन आँखिन को तारो।
प्रान लेत हँसि-हँसि तिनके तू, जिन प्रानन को प्यारो ॥
रसघाते करि मारत बातें देखत कौ अति बारो।
हरि तेरी विपरीत बानि पै कहा हमारो चारो ॥
(वियोगी हरि)

हम ब्रजभाषा को एकदम छोड़ने के लिए—इस समय छोड़ने के लिए—उद्यत नहीं हैं। सम्भव है बहुत दिनों के पश्चात इस की वही

दशा हो जो वेद की भाषा की हो गई है। सम्भव है इस को समझने के लिए भविष्य में विशेष योग्यता और परिश्रम की अपेक्षा हो। सम्भव है भाषा के रूप में इतना परिवर्तन हो जाय और ब्रजभाषा इतनी अपरिचित अनोखी हो जाय कि देव का यह पद्य मनोरम न हो, पर अभी नहीं, अभी नहीं :—

छहरि-छहरि झीनी बूँदनि परति मामों,
घहरि-घहरि घटा छाई है गगन मैं।
आइ कह्यौ स्याम मोसों चलौ आजु झूलिवे कौं,
फूली न समाई ऐसी भईहौं मगन मै॥
चाहति उठ्यौ उठि गई सो निगोड़ी नींद,
सोइ गए भाग मेरे जागि वा जगन मैं।
आँखि खोलि देखौ तौ न घन है न घनस्याम,
वेई छाई बूँदें मेरे आँसू ह्वै दृगन मै॥

(७)

नवीन शैली के कुछ कवियों ने भाषा को राजनैतिक आन्दोलन के प्रभाव से सरल और सुगम बनाया, कुछ ब्रजभाषा में ही कविता करते रहे, और कुछ ने भाषा को जटिल और संस्कृतमयी बनाया। इस अन्तिम कक्षा के कवियों पर बँगला साहित्य का बड़ा प्रभाव पड़ा है। जो कोई बँगला के पीछे ६० वर्ष की कविता से अनभिज्ञ है वह स्वयं देख सकता है कि कितनी समानता बँगला और आधुनिक हिन्दी कविता में है, विशेषकर संस्कृतमयी भाषा से स्नेह में। जिन कवियों को ब्रजभाषा पुरानी मालूम होती है उन्हें संस्कृत की शरण लेनी पड़ी। इस का फल इतना अवश्य हुआ है कि जो प्रारम्भ की खड़ी बोली में कर्कशता और ग्रामीणता थी अब जाती रही। प्रारम्भ की खड़ी बोली में काव्योचित मधुरता नहीं थी।

उदाहरण के लिए यह पद्य हैं :—

ध्यान लगा कर जो तुम देखो सृष्टी की सुघराई को।
बात बात में पाग्रोगे ईश्वर की चतुराई को॥
(श्रीधर पाठक)

सारे देव वृन्द से खिंचकर देवराज के नयन हज़ार।
कामदेव पर बड़े चाव से आ कर पड़े एक ही बार॥
अपने सब सेवक-समूह पर स्वामी का आदर-सत्कार।
प्राय: घटा बढ़ा करता है सदा प्रयोजन के अनुसार॥
(महाबीर प्रसाद द्विवेदी)

क्या नहीं है हाथ में उस के, वह क्या करता नहीं॥
चाहता जो कुछ है वह फिर वह कभी टरता नहीं॥
सुख नहीं पाता है वह, जिस पर है वह ढरता नहीं।
कौन फिर उसको भरे ? जिस को कि वह भरता नही॥
जितनी है करतूत उस की वह निराली है सभी।
उस के भेदों का पता कोई नहीं पाता कभी॥
(अयोध्यासिंह उपाध्याय)

अहा ! ग्राम्य-जीवन भी क्या है, क्यों न इसे सब का मन चाहे।
थोड़े में निर्वाह यहाँ है, ऐसी सुविधा और कहाँ है !
(मैथिली शरण गुप्त)

ये पद तुकान्त हैं, कुछ पद्यों में प्रवाह है, पर कविता से कितनी दूर, यथार्थ कविता की भाषा इन से कितनी भिन्न है ! इन को तो सुन्दर गद्य भी नहीं कह सकते। इन से अब की कविता कितना आगे बढ़ गई केवल छन्द और भाषा में—इस का अनुमान नीचे की पंक्तियों को देखने से होगा—दूसरी भाषा मालूम होती है, दूसरा स्वर, दूसरा राग, दूसरा युग। पन्द्रह वर्ष में कितना परिवर्तन हुआ है।

अश्रु मेरे माँगने जब
नींद में वह पास आया !
स्वप्न सा हँस पास आया !
हो गया दिन की हँसी से
शून्य में सुरचाप अंकित
रश्मि-रोमों में हुआ
निस्पन्द तम भी सिहर पुलकित;
अनुसरण करता अमा का
चाँदनी का हास आया।
(महादेवी वर्मा)

समय ! आज तू मिलन-रूप बन।
पलकों की गति सहित ठहर जा,
उर में है तारक-सा कम्पन।
जग में जितने सरस सुमन हैं,
वे सब मेरे विकसित मन हैं।
पवन पंख पर बैठ किरण-से
आ जावें मेरे जीवन-धन।
समय ! आज तू मिलन-रूप बन।
(रामकुमार वर्मा)

स्तब्ध-ज्योत्सना में जब संसार
चकित रहता शिशु-सा नादान,
विश्व के पलकों पर सुकुमार
विचरते हैं जब स्वप्न अजान,
न जाने, नक्षत्रों से कौन
निमंत्रण देता मुझको मौन !
(सुमित्रानन्दन पन्त)

तुमने समझा मधुपान किया ?
मैंने निज रक्त प्रदान किया !
उर क्रन्दन करता था मेरा,
पर सुख से मैंने गान किया !
मैंने पीड़ा को रूप दिया,
जग समझा मैंने कविता की !
मै एक सुराही मदिरा की !
(बच्चन)

इन कविओं पर इन के समकालीन कवियों पर बँगला और उर्दू की कविता-शैली का, उन साहित्यों के नाद, सुर और राग का, स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। बँगला के निम्नलिखित पद्यों में पद का विभाग, तुकों का प्रबन्ध, संस्कृत के शब्दों का प्राचुर्य्य—विशेष देखने योग्य हैं—

हरि-नामामृत पाने विमोहित,
सदा आनन्दित नारद ऋषि।
गाहिते गाहिते अमरावतीते,
आइलि एकदा अजलि दिशि।
(हेमचन्द बन्द्योपाध्याय)

अन्धकार सन्ध्यार आकाशे
विजन तारार मांझे काँपिछे ये मन
स्वर्गेर आलोकमय रहस्य असीम,
ओइ नयनेल .
निबिड़ तिमिरतले, कांपिछे तेमनि
आत्मार रहस्य-शिखा।
ताइ चेये आछि—
तोमारे कोथाय पावे
ताइ ए कुन्दन ! (रवीन्द्रनाथ ठाकुर)

करवन जागिले तूमि हे सुन्दरी ऊषा
रजकीर पार्श्वे छिले स्वपन--मगन--
करवन कुरिले तूमि स्वर्ग-वेश-भूषा ?
ललित रागिनी दिये रांजिले गगन !

(चितरंजनदास)

शुधु सुख हते स्मृति,
शुधु व्यथा हते गीति,
तरिहते तीर;
खेला हते खेला—श्रांति
वासना हइते शान्ति
नभ हते नीड़ ।

(रविन्द्रनाथ ठाकुर)

(८)

बाह्य स्वरूप से भी अधिक काव्य के अन्तरात्मा पर बँगला का प्रभाव है । अँगरेज़ी कवि शैली का रविन्द्रनाथ ठाकुर ने कई अंशों में अनुकरण किया है । उस की धारणा यह थी कि संसार का मूलतत्व प्रेम है । प्रेम के बन्धन से समस्त पदार्थ सीमित हैं—वस्तुमात्र का अस्तित्व प्रेम पर निर्भर है । प्रेम से संसार की मुक्ति हो सकती है । प्रेम की जब विजय होगी तब संसार में विरोध, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, नाम को भी न रहेगा । परन्तु मनुष्य क्रूर है, अन्ध है, मदमत्त है—प्रेम से अलग रहता है, प्रेममय विश्वसे दूर भागता है । इसी से स्वप्न और धारणा और विश्वास और प्रत्यक्ष के असमंजस से, कवि को शोक है, वेदना है, इसी से हास्य क्रन्दन हो जाता है, आह्लाद खेद बन जाता है, और कवि या एकान्त में सिसकता है या उच्च स्वर से रोता है । साथ ही रवीन्द्रनाथ वेदान्त के तत्त्वों को भी अपनी कविता में विशेष स्थान देते है । हिन्दी के छायावादी कवियों के

विषय में यह कहना असत्य न होगा कि वे रवीन्द्रनाथ के अनुयायी हैं। साथ ही फ़ारसी सूफ़ी कवियों का भी प्रभाव अनेक कवियों में मिलता है। स्थूल-जगत से कवि असन्तुष्ट है। भावना का जगत, स्वप्न का जगत, विचार का जगत, न केवल निस्सीम है पर सुन्दर भी, सत्य भी है। जड़ पदार्थ और—चेतना में भेद नहीं है। समस्त विश्व की आत्मा वेदना-मयी है, शोक सन्तप्त है, पीड़ित है। इस की व्यथा मनुष्य की व्यथा से भिन्न नहीं है—एक ही आत्मा के दो रूप हैं। रूप केवल कामिनी के मुख में ही नहीं, पर नभ में, पुष्प में भी है। बाहर से कहीं अधिक विस्तृत अन्दर का विश्व है। कला का विश्व भी बड़ा ही रमणीक और विशाल है। चाहे जिस छवि से मुग्ध हो वह विश्व-छवि का अंश है। नक्षत्रों से, तड़ित से, कुसुम से, लहरों से, खद्योतों से, ओस से, स्वप्न से मनुष्य को संदेसा मिलता है, स्नेह का राग सुन पड़ता है, प्रकाश फैलता है। स्वर, स्पर्श, घ्राण, दृष्टि, ध्यान, स्मृति, आकांक्षा, इन में कोई भेद नहीं है।

स्पृहा के विश्व! हृदय के हास?
कल्पना के सुख! स्नेह-विकास!
फूल! तुम कहाँ रहे अब फूल?

अनिल में! बन कर ऊर्म्मिल-गान
स्वर्ण-किरणों में भर मुसकान,
झूलते हो झोकों की झूल?
फूल! तुम कहाँ रहे अब फूल?

यही फूल अवनि में, सलिल में, अनल में गगन में विद्यमान है। विश्व के सृष्टा की कल्पनातन्त्री से अस्फुट झंकार निकलती है तो यह एक बालिका के क्रन्दन में ध्वनित होती है। आशंका यही है कि इस कल्पना के जगत में कवि कहीं खो न जाय, रास्ता न भूल जाय, भटकता न रह जाय।

आधुनिक लेखकों की कविता में दो तीन विशेषतायें उल्लेखनीय हैं। एक तो यह कि उन के पद करुण रस में पगे हैं। "एको रस:करुण एव, निमित्तभेदात् पृथकपृथगिवाश्रयते विवर्तान।" इस का मूल भी बॅंगला साहित्य है। बंगाल प्रान्त निवासी सभी कलाओं में निपुण है—चित्रकला, नृत्य, अभिनय, गान, काव्य प्रत्येक कला में कुशल है। परन्तु न जाने क्यों इन कलाओं में आह्लाद नहीं शोक ही प्रधान है। ऐसा ज्ञात होता है कि "दु:खसंवेदनायैव चैतन्यमाहृतम।" बॅंगला गाना कितना मधुर होता है। बॅंगाली के स्वर से और भी मधुरता आ जाती है। गाना मैंने ऐसा मधुर ऐसा करुण कभी नहीं सुना जैसा लखनऊ के अतुलप्रसाद सेन का—उन की कविता में जो सरसता थी वही स्वर में भी। परन्तु हिन्दी, भाषा-भाषी तो बंगालियों की भाँति करुण प्रकृति के नहीं है। फिर कविता में ही करुण रस का प्राधान्य क्यों? यहाँ भी अँगरेज़ी कवि शेली की कृपा है—यह वेदना भी उन्हीं का प्रसाद है। इस से मेरा अर्थ नहीं है कि हिन्दी में करुण रस कृत्रिम, अस्वाभाविक रूप में है। जो भाव हृदयंगम हो वह कृत्रिम नहीं हो सकता। कही-कहीं तो करुणा की कविताएँ अत्यन्त मर्मभेदी हैं। ऐसा अनुमान होता है कि कवि की दृष्टि में प्राप्ति से आकांक्षा अधिक प्रिय है, मिलन से प्रतीक्षा में अधिक आनन्द है।

प्रकाश से अन्धकार का महत्त्व अधिक है।

ज्योति जगा कर भी टटोलनेवाला मैं क्या पाऊँगा।
अन्धकार ही रहे, न सूने घर में दीप जलाऊँगा,
है विषाद का राज्य, तड़पता बन्दी बनकर सुख मेरा,
कैसे मूर्च्छित उत्कंठा की दारुण आग जलाऊँगा?
सहमी-सी हैं खड़ी कहीं ये टूट न जायें दीवारें,
करुणा की आँखें बरसातीं तप्त आँसुओं की धारें,

झुका हुआ नभ झाँक रहा है हो अति विकल खिड़कियों से,
अनिल साँस कर रहा, रहीं पड़ मुझ पर जो दुख की मारें।

कंटकमय जगजीवन—वन है,
मार्ग निरन्तर अगम गहन है।

लो, अब तो निशि भी घिर आई;
निर्जन में छाई अँधियारी।

कौन जाने, यह विकम्पित दीप तुमने कब बहाया,
क्या पता तुमने इसे फिर कब बुझाया कब जगाया,

है पता इतना कि इस ने आज तक प्रश्रय न पाया।
हैं बहाए जा रहे इस को प्रवाही उपकरण ये।

मेरे छोटे जीवन में,
देना न तृप्ति का कण भर,

रहने दो प्यासी आँखें,
भरती आँसू के सागर।

मै भी तो तुझ सा हूँ विचलित;
कठिन शिलाओं से चिर परिचित;

प्रतिबिम्बित नभ-सा चंचलचित;
फेनिल के आँसू से चर्चित,

जान न पाता हूँ जीवन का—
किस स्थल पर है सुखद छोर।

देखि प्रफुल्लित याहि, नैन कोउ किये न सारथ।
इहौं नाहिं लखि प्रगट करि सको भाव हिए के।।

वाकी सबरी आस हाय। रहि गई मनहि मन।
क्यों मुरझाइ गई अबहीं हा! नवकलिका यह?

प्रभु की निर्दयता, जीवों की,
कातरता दरसा दे तू।
मृत्यु समय के गौरव को भी,
भली-भाँति झलका दे तू।

(१०)

देखा जाय तो इस समय की कविता में प्रकृति वर्णन पर्याप्त रूप में है। पुराने कवियों ने भी प्रकृति का वर्णन किया है, अस्तु काल-क्रम से, इन के वर्णनों में स्वाभाविकता की कमी हो गई। मृग और चकोर और चन्द्रमा की चर्चा तो सभी करते रहे; मेघ, कोयल और मयूर का भी यथाविहित वर्णन होता रहा—परन्तु यह बहुत कम पद्यों से पता चलता था कि कवि ने स्वयं इन को देख कर किसी भाव का अनुभव किया था—ऐसा भास होता है कि साहित्य में इन का वर्णन कवि ने पढ़ा है और उस के चित्त पर प्राकृतिक साक्षात प्रभाव नहीं, किन्तु साहित्यिक प्रभाव पड़ा है। कविता में प्रकृति का उल्लेख करना कवि अपना कर्त्तव्य समझने लगा था। जड़ पदार्थ में चेतनता प्रदान करना, पक्षियों और पशुओं में मनुष्य के भाव और विचार का प्रदर्शन, प्रकृति में और मनुष्य में समानता देखना, मनुष्य और निर्जीव जगत में ऐक्य पाना—सच्चे कवि का ही काम है। प्रकृति वर्णन के बड़े सुन्दर पद आजकल की कविता में हैं।

सरसी उसको फिर मिली एक जिसमें आकाश नहाता था।
नभहंस उतर तरंग में जिस से डूब डूब उतराता था॥

अलस कमलिनी ने कलरव सुन उन्मद अखियाँ खोली,
मल दी ऊषा ने अम्बर मे दिन के मुख पर रोली।

लहर लहर कर यदि चूमे तो,
किंचित विचलित मत होना।
होने दो प्रतिबिम्ब-विचुम्बित,
लहरों ही में लहराना।
लो मेरे तारों के गजरे
निर्झर! स्वर में यह गाना।

यदि प्रभात तक कोई आ कर तुम से हाय! न मोल करे।
तो फूलों पर ओस-रूप में बिखरा देना सब गजरे॥

फिर आया बसन्त पिलाया अहा!
वह मादक प्रेम का प्याला तुम्हे;
सुख आँखों तुम्हारा न देख सका—
पतझार ने क्यों सुखा डाला तुम्हें?

अगणित बाहें बढ़ा उदधि ने इन्दुकरों से आलिगन
बदले, विपुल चटुल लहरों ने तारों से फ़ेनिल चुम्बन;
अपनी ही छवि से विस्मित हो जगती के अपलक लोचन
सुमनों के पलकों पर सुख से करने लगे सलिल मोचन;

हिन्दी कविता का अभी और रूपान्तर क्या होगा कौन कह सकता है? भविष्यवाणी की शक्ति साधारण मनुष्य में कहाँ? 'रहस्यवाद' और 'छायावाद' ब्रजभाषा और खड़ी बोली—इन झगड़ों में पड़ना मूर्खता है। काव्यरसास्वादन के लिए इन झगड़ों की आवश्यकता नही है। कवि की प्रार्थना तो केवल यह है—'अरसिकेषु कवित्त निवेदनम्

शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख ।" उच्चकोटि के कवि हमारे समाज में है, वे आदर के पात्र है। नवीन प्रणाली चलाने वाले प्रतिभाशाली कवियों की यथेष्ठ संख्या है, उन की कृतियों को भी निष्पक्षपात-रूप से ध्यान से पढ़ना चाहिए। विशेषकर नवयुवको की कविता की गति को देखना चाहिए, क्योंकि देवताओं की भाँति कवि भी सदा युवा रहता है, उस की कल्पना देश के स्वप्नों की मूर्ति है, उस के विचार देश की आशाओ की ध्वनि है, उस के राग देश की आकांक्षाओं की विस्तृत व्याख्या है।

•

रामकुमार वर्मा : "चित्ररेखा" के कवि

प्राक्कथन अथवा भूमि की अपेक्षा तो ऐसे लेखकों को होती है जिन की कृति से जनता अपरिचित हो। ऐसे सुलेखक जिन की ख्याति फैल चुकी है, जिन की कविताएँ लोकप्रिय हो चुकी हैं, जिन को साहित्य से रुचि रखनेवाले अच्छी तरह जानते हैं, और जिन की साहित्य-सेवा सुविदित है, जब प्राक्कथन लिखने का आदेश करते हैं तो यह निश्चय करना कठिन है कि उन के विषय में कहा क्या जाय ! यह कठिनता और भी बढ़ जाती है जब उन की पुस्तक एक बार छप चुकी है, उस के गुण-दोष पत्रों और पत्रिकाओं में वर्णित हो चुके हैं। 'चित्ररेखा' पाँच वर्ष हुए, सन् १९३५ में प्रकाशित हुई थी। अब उस का दूसरा संस्करण प्रकाशित हो रहा है। यह साहित्य के लिए प्रसन्नता का विषय है कि काव्य-ग्रन्थ का पाठकों ने इतना सम्मान किया कि दूसरे संस्करण की आवश्यकता हुई।

मनुष्य आगे बढ़ता है, उन्नति करता है, नये आविष्कारों से जीवन को सुखमय बनाता है, सामाजिक और राजनैतिक उलझनों के नये रूपों में फँस जाता है, विज्ञान के खेलों में जी बहलाया करता है, अपने युग को और सब युगों से अधिक प्रगतिशील समझता है, विद्या में, बुद्धि में, अपने पूर्वजों से अपने को बढ़ा हुआ समझता है, परन्तु यथार्थ में मर्मस्पर्शी विषयों में परिवर्तन नहीं होता है। जन्म, मरण, वियोग, स्नेह, राग, मोह इत्यादि जैसे पहले थे वैसे ही अब भी हैं। पिता से पुत्र का वियोग, कन्या का माता के प्रति स्नेह, बाल-क्रन्दन, मित्रता, पति का पत्नी-प्रेम, प्रकृति का सौन्दर्य्य, असमय की मृत्यु, अमरत्व की आकांक्षा, इन मार्मिक विषयों में कोई भेद न आया है और न आ सकता है जब तक मानव प्रकृति

में ही अन्तर न हो जाय। रुदन के स्वर में, अट्टहास के रूप में, प्रार्थना अथवा उत्साह के स्वर में, मनुष्य का हृदय अपने भावों को अब भी प्रकाशित करता है। मनुष्य के चित्त का उद्‌गार, वैयक्तिक भावना, स्वप्न, वासना, उत्कंठा,—नाम भले ही बदल लें, उन की आन्तरिक वास्तविकता में कोई अन्तर नहीं आता है। साहित्य मनुष्य के हृदय की भाषा है। राजनीति, विज्ञान, दर्शन, इन का भी समावेश काव्य में होता है, परन्तु अन्ततोगत्वा हम यही देखेंगे कि जो कोई कविता बहुत दिनों जीवित रही है उस में मनुष्य के हृद्‌गत भावों का सुन्दर वर्णन है। और सब बातें तो कालक्षेप से पुरानी हो सकती हैं। राजनीतिक और धार्म्मिक विचार परिवर्तनशील हैं, विज्ञान और दर्शन में दिनानुदिन उन्नति होती जाती है, परन्तु किसी काल में मनुष्य को कष्ट होता है, आह्लाद होता है, पीड़ा होती है, करुणा से द्रवित होना पड़ता है, आज भी वैसे ही जैसे हज़ारों वर्ष पहले। उसी कविता को अमरत्व प्राप्त हो सकता है जो इन मार्म्मिक भावों पर लिखी जाती है। अँगरेज़ी के कवि Flecker एक हज़ार वर्ष के आगे के कवि को कहते हैं :—

"I care not—if you bridge the seas,
Or ride secure the cruel sky.
Or build consummate palaces
Of metal or of masonry.
But have you wine and music still,
And statues bright-eyed love,
And foolish thoughts of good and ill,
And prayers to them who sit above?"

ये ही विषय सर्वकालीन हैं, और इन्हीं पर जो सुन्दर कविता लिखी जाती है, स्मरणीय होती है। Yeats ने भी इसी आशय की एक कविता लिखी है।

"Seek those images
That constitute the wild,
The lion and the virgin,
The harlot and the child.
Find in middle air
An eagle on the wing,
Recognise the five•
That make the muses sing."

कविता में सब से प्रधान अङ्ग भाव है. फिर कल्पना, फिर शब्द-विन्यास। यदि इन सब के साथ दार्शनिक तत्त्वों का भी समावेश हो तो अच्छा, परन्तु दर्शन, राजनीति, विज्ञान इत्यादि काव्य के आवश्यक अनिवार्य अंश नहीं हैं। इन के समावेश से काव्य का क्षेत्र संकुचित हो जाता है, दल और समुदाय विशेष के उपयोग की सामग्री हो जाता है, इस में नैसर्गिक हृदय-ग्राहिता का ह्रास हो जाता है। आजकल के नवयुवक बहुधा 'प्रगतिशील साहित्य' लिखने का प्रयास कर रहे है। कहीं किसान का नाम आ जाय अथवा गाँव का उल्लेख हो, अथवा सम्पत्तिशालियों की निन्दा और अवहेलना हो, तो वह कविता उन्नतिशालिनी समझी जाती है। ईश्वर का नाम लेना, विधाता का नाम लेना, पूर्वजों का नाम लेना, प्रकृति के सौन्दर्य का वर्णन, पिता के प्रति श्रद्धा, परिवार के प्रति प्रेम, देशभक्ति, ये सब महापाप समझे जाते हैं। दाम्पत्य स्नेह, गुरुजनों की सेवा, वचन का पालन—ये सब तो मिटे हुए अथवा मिटाये जाने योग्य समाज के दोष हैं। इन सब का उन्नतिशील साहित्य और समाज में कोई स्थान नहीं है। भाव का विकास, कल्पना का स्वातन्त्र्य, इन को भी प्रगतिशील नवयुवक तिलांजलि दे रहे है। वीभत्स रस का आजकल विशेष सम्मान है। जब अहोरात्रि विप्लव की ही आराधना होती है, न केवल किसी विशेष ध्येय के निमित्त, किन्तु सदा के लिए,

प्रतिक्षण, नित्य विप्लव की ही आकांक्षा है, तो फिर इस में आश्चर्य क्या कि जिन वस्तुओं को सहस्रों वर्ष से साहित्यकार, साहित्य के पंडित और महाकवि, काव्य के प्रधान अवयव समझते आये हैं और संसार के कल्याण के साधन समझते आये है, उन्हीं का आज के नवयुवक तिरस्कार कर रहे हैं ! प्रति युग का यही विश्वास रहता है कि वह और प्राचीन युगों से आगे बढ़ा हुआ है । प्रत्येक युग में यही नवयुवकों की धारणा रहती है कि उन के पूर्वज पुराने विचार के थे और उन्नति के लिए आवश्यक है कि न केवल जीवन के प्रति अंश में नवीनता हो परन्तु प्राचीन विचारों का भी वहिष्कार है । युवावस्था की उमंग में तो संसार की नई सृष्टि करना कठिन नहीं समझा जाता है । जो अब इस अब के युग में भयावह बात है वह यह कि इस प्रकार की उच्छृंखलता नवयुवकों में ही नहीं बड़ों में भी पाई जाती है । इन का मत यह है कि मानव जीवन में जो कुछ भी होता है उस के दो ही कारण हो सकते हैं । एक तो आर्थिक लाभ की इच्छा, और दूसरा नारी-सम्भोग की अभिलाषा । इस मति-अन्ध समाज से वाद-विवाद व्यर्थ है । हम तो यह जानते है कि बहुत से विख्याति नेताओं ने अनेक कार्य ऐसे किए हैं जिनका सम्बन्ध आर्थिक लाभ और नारी से लेशमात्र भी नहीं है । अनेक काव्य ऐसे हैं जिनमें इन विषयों का उल्लेख नहीं है D. H. Lawrence का तो Galsworthy के विरुद्ध यही आक्षेप था कि उन के उपन्यासों में धन और नर-नारी सम्बन्ध के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं । हमारे प्रगतिशील महानुभाव चाहे जो कहें उत्तम कविता काल और समय से बद्ध नहीं रहती है । जैसा कि मैंने कई वर्ष हुए लिखा था :—

"कविता का लुप्त हो जाना असम्भव है । हमारी अन्तरात्मा कवितामय है, मनुष्य मात्र का जीवन एक काव्य है । पत्तियों के हिलने में, कोयल के गानें में, एकान्त तारा की ज्योत में, नदी के तरङ्ग में, तड़ाग की गम्भीरता में, हिम शिखर की दुर्गमता में,

विद्युत् की आभा में, मृग के करुण नयन में, शिशु के टूटे शब्दों में, कान्ता की सरलतामें, पिता के वात्सल्य में, माता की ममता में—कविता का निवास है। जब वृक्ष की डालें पृथ्वी की ओर झुकती हैं उनके झुकने में कविता है। जब मयूर सावन में नाचता है, जब मनुष्य अज्ञात अज्ञेय ईश्वर की आराधना करता है, जब पुरुष स्त्री को अपना सर्वस्व समर्पित करता है, जब प्रासाद में, गुफा में, सौरभ में, स्पर्श में, शब्द में, हृदय में, मनुष्य ईश्वर को पाता है, जब मनुष्य संसार में सब से बड़ी वस्तु अपने भाव और अपने विचार को समझता है, तब कविता की उत्पत्ति होती है। लोकोत्तर आह्लाद, हृदय-द्रावी सन्ताप, आकाश भेदी आशा, आजीवन स्नेह—इन से कविता का गूढ़ सम्बन्ध है। प्रतिदिन पृथ्वी पर, आकाश में, चित्त में, क्रिया में, विचार में, कविता विद्यमान है। हमारे साथ, हमारे नित्य के जीवन में, हमारे प्रत्येक कार्य में, एकान्त में, जन समूह में, कविता है। किस की शक्ति है कि कविता को मानविक जीवन से बाहर करे ?"

ये विषय तो सहस्रों वर्ष पूर्व भी थे और अब भी हैं और उन का काव्य रस अब भी पूर्ववत् है।

श्री रामकुमार जी की कविताओं के पढ़ने से यह स्पष्ट है कि इन के विषय प्राचीन और सनातन हैं, ऐसे हैं कि उन पर कविता सदा लिखी जायगी, और जिन से प्रत्येक व्यक्ति प्रभावित होता है। कविता सर्वकालीन और सर्वजन-प्रिय तभी हो सकती है जब उस में हृद्गत भावों का वर्णन हो अथवा प्रकृति का निरीक्षण।

रामकुमारजी की कविताओं को पढ़ने से ज्ञात होता है कि वे जीवन के दुःख की कहानी से बहुत प्रभावित हैं। कुछ दूर तक तो यह शोक से आतप्त होना स्वाभाविक है और कुछ अंश में कृत्रिम। करुण रस का प्राधान्य है Romantic कविता की विलक्षणता है। Shelley

और Keats और Matthew Arnold, और जर्मनी में Goethe और Schiller, हमारे देश में रवीन्द्रनाथ ठाकुर, सभी की कविता में करुण रस भरा हुआ है। "एको रस:करुण एव"। विह्वलता, विवशता, नैराश्य, निर्बलता, एक प्रकार की कविता में मिला करती हैं, और प्राबल्य, निर्भीकता, स्थिरता, दूसरे प्रकार की कविता में। किस प्रकार का पद्य कोई लिखेगा यह उस की प्रकृति और आन्तरिक प्रवृत्ति पर निर्भर है। जिसने अपने चित्त पर आधिपत्य पा लिया है और शान्त एवं स्थिर मन से संसार की लीला को देख सकता है और बिना दैन्य के जीवन व्यतीत करता है, उसकी कविता में उद्विग्नता और नैराश्य नहीं मिलेगा। कुछ चित्त की प्रवृत्ति के कारण और कुछ आधुनिक काव्य की प्रगति से प्रभावित हो कर रामकुमारजी की कविता करुणरस में पगी हुई है। अधिक कविताओं में करुण रस मिलता है, इस के अनेक उदाहरण मिलते हैं। विविध विषयों की कविता में यह रस पाया जाता है। जहाँ इस की आशा भी नहीं जा सकती थी वहाँ भी विद्यमान है। किसी का हास सुना, मधुमास का आभास हुआ, शोकातप्त चित्त क्षण भर के लिए प्रसन्न हुआ —

"आँख से नीरव व्यथा के
दो बड़े आँसू बहे हैं;
सिसकियों में वेदना के
व्यूह ये कैसे रहे हैं!
एक उज्ज्वल-तीर-सा रवि-रश्मि का उल्लास आया ॥"

× × ×

"एक वेदना विद्युत-सी
खिंच-खिंच कर चुभ जाती है;

एक रागिनी चातक-स्वर में
सिहर सिहर गाती है।"

× × ×

"इस ओर एक चीत्कार उठा, उस ओर एक भीषण कराह।"

"है जहाँ मृत्यु ही शान्ति और
जीवन है करुणामय प्रवास।"

× × ×

"इतना विस्तृत होने पर भी
क्यों रोता है नभ का शरीर!
वह कौन व्यथा है जिस कारण
है सिसक रहा तरु में समीर।"

× × ×

"मेरा भी इतना लघु उर है किन्तु वेदना है अविचल।"

× × ×

"जीवन क्या है? पीड़ा का—
संघर्ष और दुख का अभिनय"

× × ×

"सूनापन ही तो मेरे
इस जीवन का है चिर धन।"

दुःख के भाँति भाँति के रूप इन पद्यों में मिलते हैं, ऐसा ज्ञात होता है कि "दुःख संवेदनायैव रामे चैतन्यमाहितम्।" इस समय के कवियों में रुदन और विरह और नैराश्य के राग बहुधा सुनने में आते हैं, वेदना के ही स्वर अधिक सुनने में आते हैं। "अज्ञेय" कहते है :—

"विरह की पीड़ा न हो तो प्रेम क्या जीता रहेगा?"

द्विज पूछते हैं—

"कैसी आग भरी है रोती आशा की इन आहों में,
चिनगारियाँ खेलती हिल मिल लपटों के संग चाहों में,
जा कर कहाँ रहूँ ? है मेरा अपना अब संसार कहाँ ?"

महादेवी वर्मा की प्रार्थना :—

"रहने दो हे देव ! अरे,
यह मिटने का मेरा अधिकार ।"

रामकुमार जी के काव्यों में करुणरस की बहुत प्रधानता है। कहते हैं :—

"गाओ मधु प्रिय गान ।
सुनने को यह नभ नीरव है
गाओ मधु प्रिय गान ॥"

और फिर—

"वन में भी मधु ऋतु का
हो जाता है आवर्तन ।
पर उजड़ा ही रहता है
मेरी आशा का उपवन ॥"

इस पुस्तक की कविताओं में प्रकृति का वर्णन भी बहुत सुन्दर है। मनुष्य की आकांक्षा रहती है, उसकी अभिलाषा रहती है कि अपने में और प्रकृति में कुछ सम्बन्ध स्थिर हो जाय। अपने जीवन में जो सुख दुःख का अनुभव होता है उस का प्रतिबिम्ब वह प्रकृति में देखने का प्रयास करता है। जो कमी अपने जीवन में पाता है उस की प्रकृति में पाने की इच्छा करता है। अपने स्वप्नों को प्रकृति के जीवन में सत्य सिद्ध करना चाहता है। यहाँ भी कवि के अपने मनोभाव पर यह निर्भर है कि उस की प्रकृति विषयक कविता कैसी होगी। यदि वह प्रसन्नचित्त रहता है तो प्रकृति भी उस के लिए आह्लादमयी है। और

प्रकृति में भी रुदन का ही स्वर, विषाद और सन्ताप का ही राग, विरह और व्यथा का ही गीत सुन पड़ता है, अश्रु-विन्दु देख पड़ते हैं और सूखे पत्ते और कुम्हलाये फूल यदि कवि स्वयं शोकाकुल है। प्रकृति का यथार्थ तत्त्व क्या है—और प्रकृति के और मनुष्य के आन्तरिक जीवन में कोई सम्बन्ध है कि नहीं इस का निर्णय कौन करे ? "नैको मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्।"

रामकुमारजी को प्रकृति का सौन्दर्य्य असह्य है—कहते हैं—

"मत आओ आकाश, आज तुम
इन्द्रधनुष का मुकुट पहन।
मैं एकाकी हूँ, यह जग है
प्रान्तर-सा छवि हीन गहन॥
तुम भी तो हो शून्य, आज
केवल दो क्षण का है शृंङ्गार।
इस से तो सुन्दरतर होगा
मेरी आशा का आकार॥"

उषा की प्रसन्न सुन्दरता देख कर कवि को आश्चर्य होता है, अविश्वास होता है—

"उषे, बतला यह सीखा हास कहाँ ?
इस नीरस नभ में पाया है
तूने यह मधुमास कहाँ ?
अन्धकार के भीतर सोता—
था इतना उल्लास कहाँ ?
सूने नभ में छिपा हुआ था
तेरा यह अधिवास कहाँ ?
यदि तेरा जीवन जीवन है
तो फिर है उच्छ्वास कहाँ ?

अपने ही हँसने पर तुझको
क्षण भर है विश्वास कहाँ ?"

प्रकृति में भी मनुष्य जीवन की समस्याओं और कठिनाइयों का प्रतिबिम्ब देख पड़ता है—

"रजनी का सूनापन विलोक
हँस पड़ा पूर्व में चपल प्रात,
यह वैभव का उत्पात देख
दिन का विनाश कर जगी रात;
यह प्रतिहिंसा इस ओर और
उस ओर विषम विपरीत बात,
नभ छूने को पर्वत-स्वरूप
है उठा धरा का पुलक गात
है एक साँस में प्रेम दूसरी साँस दे रही विषम दाह ॥
मैं भूल गया वह कठिन राह ॥"

× × ×

शुद्ध कल्पना और उपमाओं की विलक्षणता इस कविता में विशेषकर देखने योग्य है—

"तारे नभ में अंकुरित हुए।
जिस भाँति तुम्हारे विविध रूप
मेरे मन में संचरित हुए ॥
यह आभा है क्या कुछ मलीन ?
अपने सङ्कोचन में विलीन
पर दुग्ध-धार से किरण-गान
मुझसे मिल कर हैं स्वरित हुए ॥
देखो इतना है लघु विकास,
मेरे जीवन के आस पास।

पर सघन अँधेरे के समान ही
दूर दैन्य दुख दुरित हुए ।।"

कविता केवल कल्पना अथवा अलकारो पर ही निर्भर नही रह सकती है। केवल "रसात्मकं वाक्यम्" कविता का पूर्ण वर्णन नही है। बाह्य आडम्बर तो अलंकार से आ जाता है, रस से रुचिकर तो काव्य हो जाता है, परन्तु आत्मा की तुष्टि के लिए आवश्यकता है कि विचार-गाम्भीर्य हो, नवीनता हो, सूक्ष्म दर्शिता हो, हृदय और मस्तिष्क दोनों के पोषण की सामग्री हो। रामकुमारजी कही कही बहुत ही गूढ़ बाते सरल रूप से कह जाते हैं। बार बार पढ़ने से इन की भावनाओ के अन्तर्गत अर्थ की सुन्दरता और माधुर्य्य का परिचय होता है—यथा :—

"इतना सा जीवन पर कितना
विस्तृत है जीवन का गान।"

अथवा—

"सुरभि-शब्द की एक लहर में
तुम क्या हो, कुछ बोलो।"

अथवा—

"समीरण, धीरे से बह आओ।
मै क्या हूँ, इन कलियों के
कानों में यह कह जाओ।"

अथवा—

"बोलो क्या मेरे जीवन में छिपा मृत्यु का कण है !"

अथवा—

"जीवन है साँसों का छोटे छोटे
भागों में चिर विलाप।"

अथवा—

"जीवन क्या है ? पीड़ा का
संघर्ष और दुख का अभिनय।"

रामकुमार जी ने इस पुस्तक के अतिरिक्त और भी पद्यसग्रह प्रकाशित किए हे। एकाकी नाटक लिखतें है, समालोचनात्मक पुस्तके लिख चुके है, कबीर के रहस्यवाद पर एक गम्भीर ग्रन्थ लिखा है, हिन्दी साहित्य का बड़ी योग्यता से अध्यापन कर रहे है। इन के काव्य मे यदि अलंकारों का ज्ञान, छन्दों पर आधिपत्य, शब्द भांडार का प्राचुर्य्य है तो आश्चर्य नहीं है। परन्तु इस के अतिरिक्त इन में भावना है, काल्पनिक शक्ति है, सहृदयता है। कालक्रम से शान्तरस भी कविता में आ जायगा—और अधिक अनुभवो के पश्चात् इन को विश्वास हो जायगा कि संसार कल्याणमय है और विश्व के स्रष्टा ने उल्लास और आनन्द को ही जीवन का अन्त बनाया है और इस के अनेक साधन भी विद्यमान है।[1]

---

[1] डा० रामकुमार वर्मा द्वारा लिखित, देव-पुरस्कार-प्राप्त, "चित्र रेखा" (प्रयाग, १६४०) मे डा० झा द्वारा लिखा हुआ प्राक्कथन।

बालकृष्ण राव : "आभास" के कवि

प्लेटो का विश्वास था कि कवि पागलपन की दशा में काव्य-रचना करता है। शेक्सपियर ने कवि, प्रेमी, और पागल—इन तीनों को एक ही कक्षा में रक्खा है। मेकॉले तो कहा करता था कि न केवल काव्य-प्रणेता का, काव्य मर्मज्ञ का भी पागल होना आवश्यक है। यथार्थ में काल्पनिक होने के कारण कवि का विलाप, कवि का हास, कवि की व्यथा, कवि का मोद लौकिक सांसारिक अनुभवों से भिन्न प्रतीत होता है। कवि स्वप्नों में उलझा रहता है, स्वप्नों में समय व्यतीत करता है, स्वप्नों को ही सत्य समझता है। भूत और भविष्य में मग्न रहता है, उसे वर्तमान की सुधि नहीं रहती। स्वकल्पित नर-नारियों के ध्यान में लीन रहता है, ऐसा मनुष्य सामान्य दृष्टि से पागल कहलाने योग्य अवश्य है, परन्तु यदि विचार किया जाय तो वास्तविक जीवन का प्रतिबिम्ब काव्य में ही मिलता है। इतिहास में, आख्यायिका में, व्यक्ति-विशेष के जीवन चरित्र में, जीवन के एक अंश की छाया मात्र मिलती है। मनुष्य के नैसर्गिक भाव समस्त संसार में, प्रति युग में, एक समान है। स्वप्न, अभिलाषा, आकांक्षा, वेदना; असम्भव सौन्दर्य की उपासना, अलौकिक त्याग, पक्षियों के कलरव में आनन्द, उनके रोदन में सहानुभूति, आकाश-भेदी उत्साह; समुद्र, गगन, नदी, पर्वत, वृक्ष, पुष्प इत्यादि जड़ पदार्थों में जीवन-प्रदान;—इन का अस्तित्व देश, काल, वर्ण से सम्बन्ध नहीं रखता, कवि का कर्त्तव्य यही है कि इन विषयों का स्मरणीय पदों में वर्णन करे।

'स्मरणीय पद' की व्याख्या आवश्यक है। स्मरणीय, मधुर, सुन्दर, ललित—इन प्रसिद्ध शब्दों को छोड़ने का क्या कारण है? "अदोष,

सगुण, सालङ्कार—" इन शब्दो का मैंने प्रयोग क्यों नही किया ? मनुष्य की स्वाभाविक चित्तवृत्ति यदि किसी पद से प्रसन्न हो तो वह पद स्मरणीय है, उस पद से सर्वदा चित्त प्रमुदित होता रहेगा।

इस प्रश्न की आवश्यकता नही कि काव्य-शास्त्र के, अलङ्कार शास्त्र के गुण विद्यमान है कि नही। "सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्त:करण-प्रवृत्तय:"। अन्त.करण का आह्लादित होना पद के अच्छा होने का चरम प्रमाण है। उस पद को स्मरण रखने के लिए विशेष उद्योग भी आवश्यक नही। स्वय पढ़नेवालों को स्मरण हो जाता है। और यदि पद स्मरणीय है तो उसमें नित्य मनोरमता बढ़ती जाती है—"पुन:पुनर्नव-तामुपैति।"

(२)

नैसर्गिक भावो का, अनादि अनन्त प्रकृति का, स्मरणीय पद में वर्णन करना कवि का कर्त्तव्य है। समालोचक का कर्त्तव्य है कि निष्पक्ष भाव से कवि के आशय पर और उस की कविता के गुण अथवा दोष पर प्रकाश डाले। प्रस्तुत पुस्तक में कवि ने किन विषयों पर कविता लिखी है ? कवि का दृष्टिकोण क्या है ? कवि के पद स्मरणीय है कि नही ? यदि नही है, तो क्यों ? श्रीयुत बालकृष्ण राव के नाम से हिन्दी-कविता-प्रेमी परि-चित है। उनके प्रथम ग्रन्थ की विद्यावयोवृद्ध समालोचकों ने हृदय से प्रशंसा की है, हिन्दी, संस्कृत और अँग्रेज़ी का ये अच्छा ज्ञान रखते हैं। काव्य से इन्हे प्रगाढ़ स्नेह है। कविता अपने मनोरंजन के लिए, हृदय के उद्‌गारों को प्रकट करने के लिए करते है, हिन्दी मातृभाषा नही है, फिर भी हिन्दी की सेवा करते है, हिन्दी के प्रति असीम प्रीति रखते है। इन मे उच्चकोटि की कविता की आशा की जा सकती है।

इस पुस्तक की कविताओं के शीर्षक देखने से ज्ञात हो जायगा कि कवि की मनोवृत्ति किस ओर है। "कविता का गीत", "?", "प्रार्थना",

"एकान्त", "निद्रा के द्वार पर", "रात में", "मुक्ति", "आभास," "आत्मा-लोचन," "जीवन," "उब्दोधन," "निचति," "कबतक," "प्रश्न,""वेदना," "विकलता,""आशंका," "भावी पत्नी के प्रति," "—के प्रति," "उच्छ्-वास," "आश्वासन," "गीत," "साधना," "अव्यक्त-भावना," इन पच्चीस कविताओं में ऐसे ही विषय है जिन का इस सम्वत् से अथवा इस देश से कोई विशेष सम्बन्ध नही है। ये विषय किसी भी युग में, होमर के समय में, कालिदास के समय में, शेक्सपियर के समय में, सूरदास के समय मे, कविता के विषय हो सकते थे और यदि मानुषिक प्रकृति में कोई क्रान्ति-कारी परिवर्तन न हो जाय, तो भविष्य में भी कविता के विषय होंगे। इतना अवश्य है कि प्रत्येक कवि नई रीति से, नये दृष्टिकोण से, नये भाव से, नये शब्दों में इन विषयों पर कविता करता है। एक "प्रार्थना" का विषय लीजिये कोई तो शारीरिक सुख माँगता है, कोई ईश्वर की भक्ति का प्रार्थी है, किसी को जन्मान्तर के लिए कुछ माँगना है, कोई कहता है "हे भगवान् मुझे यह शक्ति दो कि तुम से कोई प्रार्थना न करूँ," कोई कहता है "तारय संसार-सागरतः," कोई चाहता है कि "लवङ्गी कुरङ्गी दृगङ्गी करोतु,"—बालकृष्ण राव की प्रार्थना यह है—

जिस कोमल कलिका के मृदु मुख
का चुम्बन कर मलय-समीर,
बन जाता है सद्य: सुरभित,
मन्द, सुशीतल, किन्तु अधीर;
उसी अलौकिक रूप-राशि की
अनुपम पार्थिवता साकार,
विभो! बना दे सुरभित, शीतल,
पर अधीर मेरा संसार!!

इस के पढ़ने से स्पष्ट होता है कि कवि नवयुवक है, संसार के सुख-दु:ख, हास्य, रोदन, उल्लास का अनुभव करने को उत्सुक है, शान्ति से अभी प्रयोजन नहीं, विश्राम का काम नहीं, इस पुस्तक में, कई कविताओं में, इसी अशान्ति, आन्दोलन, उत्साह, हल-चल, उद्वेग के भाव अधिकतर मिलते हैं

कब तक रह सकते सुमनो पर सस्मित तुहिन-विन्दु सुकुमार ?
कब तक होगा निद्रा-जागृति का स्वप्नस्थल में अभिसार ?
कब तक नीरवता के तम में रह सकती है ध्वनि की कान्ति ?
कब तक आशा के अंचल में छिपकर सो सकती है शान्ति ?
("कब तक")

वर्षो की वह अव्यक्त प्रीति
हो गयी, प्रकट, तज पूर्व रीति—
सुख-स्वप्न-सिन्धु में, प्राणेश्वरि !
डूबी जागृति की भीष्म भीति ।। ("रात मे")

क्षण भङ्गुरता हो जीवन की है सच्ची परिभाषा;
अनुभूति निराशा है यदि, जीवन-विभूति है आशा ।।
("जीवन")

यदि मेरी अव्यक्त व्यथा में है अनन्यता का उत्कर्ष,
तो मत देना मुझे, प्रकट हो, प्राणेश्वरि, मिलने का हर्ष ।
("भावी पत्नी के प्रति")

(३)

भवभूति ने कहा है "एको रसः करुण एव," और यह सत्य है कि जिनमें करुण रस का प्राधान्य होता है वही कविताएँ हृदयग्राही और लोकप्रिय होती हैं । ठीक से समझ में नहीं आता कि सस्मित अधरों से साश्रुनयन क्यों अधिक आकर्षित करते हैं, हास्य से रुदन क्यों अधिक प्रिय है, सभा से एकान्त क्यों अधिक मनोरम है, सूर्य्य की किरणों से

चन्द्रमा की रश्मि क्यों अधिक सुन्दर है। बालकृष्ण जी की कविताओं मे करुण रस के अनेक पद हैं—

आज व्यथित है सखि सुख का मन,
लुटा चुके हैं नयन अश्रुधन,
अब अभिनव अभिलाषाओं में
आशा आश्रित हो न सकेगी।
सजनि, कल्पना सो न सकेगी॥
("उच्छ्वास")

मुझे सृष्टि के आदि समय में,
प्रकृति-प्रिय के नव आलय में,
छिपा गया था प्रथम विश्व-कवि
तन से, नीरवता से रच कर।
("कविता का गीत")

"किस से पूछूॅ ?" "क्या पूछूॅ ?" बस यही पूछ पाता हूॅ—
स्वप्नों से व्याकुल हो, क्यों जागृति से भय खाता हूॅ ?
सम्भव है इस सीमा में ही मर मिटना है मुझको,
दीप बुझा कर, कल फिर जगने को अब सो जाता हूॅ॥
("आत्मालोचन")

विश्व के कण कण में हो व्याप्त
सुनाती है तू स्वर्गिक गान;
बनाती यह संसार सजीव
विकलता का करती आह्वान॥ ("वेदना")
कल्पना-कलिकाएँ सुकुमार
निछावर कर तुझ पर अनजान
साथ अपने रहने का, देवि!
माँगता हूँ तुझ से वरदान॥ ("विकलता")

(४)

इंग्लैंड के एक कवि की प्रार्थना है—"मुझे ऐसा ज्ञान सिखा दो जो अपना आधिपत्य रात्रि पर जमा ले, जिसे सुन कर बुलबुल अपना गाना भूल जाय, जिसके सुनने से चन्द्रमा आनन्द से एक स्थान पर स्थिर रहे, जो अक्षर अक्षर में, पद पद में बढ़ कर प्रेम में लीन हो जाय। मुझे ऐसा गान सिखा दो जिस में स्मृति की करुणा और आशा की उमङ्ग हो, स्नेह की पवित्र ज्वाला हो, जिसे सुन कर सुर गण भी मनुष्य होने की इच्छा करने लगें। मुझे ऐसा ज्ञान सिखा दो जिस का स्वर ताराओं से भी ऊँचा पहुँचे, समस्त लोक में व्याप्त हो जाय और प्रेम का मन्त्र युग युगान्तर तक सब को सुनाता रहे।" कवियों की आशायें बलवती होती हैं। बालकृष्ण जी कहते हैं—

प्रिय, मै भी सुन सकता हूँ अब नीरवता का गान;
कर सकता हूँ अब असीम का कण—कण में अनुमान।
देख रहा हूँ तारों की द्युति में तम की मुस्कान;
स्मृति की सरिता का स्वप्नों के सागर में अवसान ॥

कुछ 'स्मरणीय पद' तो ऊपर के उदाहरणों में हैं, कुछ और ये है—

सुमन-सुरभि में, अलि-गुजन में।
नीरव वीणा में मादक स्वर।

इस नीरव, निर्जन निशीथ में, किस का कोमल गान
जगा रहा है सुख से सोती स्मृतियों को अनजान?
प्राप्ति-परिधि से सीमित था अभिलाषा का संसार।
निद्रा की क्षण भंगुर निद्रा को हम जागृति कहते;
तम से तम की ओर सतत हम ज्योति-मार्ग से बहते।
स्वप्नों के सुमनों से भूषित भावों के उपवन में,
सुरभि पवन में, कंटक-वन में, हँसते, रोते रहते ॥

"मधु पाकर मधुमय होंगे" मधुकर कहते मन मारे।
"मधुमय हो मधु पाओगे" कह रहे कुसुम गण सारे॥
पथ में ही प्राप्ति निहित है, यह है समाप्ति सिखलाती।
मेरे जीवन की भाषा ले, ले तेरे जीवन का छन्द,
जिस रस की कविता रचता है, स्वप्न-लोक का कवि सानन्द?

(६)

बालकृष्णजी की कविता सजीव है, इस में जीवित रहने की, शक्ति है, सरस है, ललित है, हिन्दी की इन से दिनानुदिन सेवा की आशा है; और आशा है कि ये कविता साहित्य में ऊँचा स्थान प्राप्त करने में सफल होंगे।[1]

---

[1] श्री बालकृष्ण राव द्वारा लिखित "आभास" (प्रयाग, १९३५) में डा० झा द्वारा लिखा हुआ "प्राक्कथन"।

नरेन्द्र : "शूल-फूल" के कवि

"जीवितकवेराशयो न वर्णनीयः"—यह प्राचीन सिद्धान्त समीचीन है और फिर यदि जीवित कवि ऐसा हो जिस की कृति को समालोचकोचित निर्म्ममता से पढ़ना सम्भव न हो तब इस सिद्धान्त का अवलम्बन तो नितान्त आवश्यक हो जाता है। प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता युवक हैं, विद्यार्थी हैं, नव आशाओं से प्रेरित, भाँति भाँति के उमङ्गों से पूर्ण हैं, कवि हैं, रस, भाव, शब्द माधुर्य्य से परिचित हैं। तथापि अभी पूरा जीवन आगे है। नित्य उन्नति करेंगे, नये राग सुनायेंगे, विविध रचनाओं से काव्य प्रेमियों को प्रमुदित करेंगे, विचार-क्षेत्र का विस्तार होगा, गम्भीरता की वृद्धि होगी, पद लालित्य, भाव-स्वातन्त्र्य और अन्य गुण नित्य बढ़ते रहेंगे। अभी, प्रथम ग्रन्थ के पढ़ने से ही, कवि का कविता अथवा साहित्य में स्थान क्या होगा इस का निर्णय नहीं हो सकता। समय परिवर्तनशील है, रुचि भिन्न है, मति चंचल है। साहित्य के महारथियों —सूर, तुलसी, बिहारी, कबीर—को छोड़ कर, और किस का पद निश्चित है? 'नवरत्न' की सूची प्रत्येक साहित्यिक अपनी रुचि से निराली बनाता है। और इन सूचियों का परिवर्तन प्रति युग में हुआ करता है। फिर और कवियों का, विशेषतः समसामयिक कवियों का और युवक कवियों का तो स्थान आज नहीं और न कल, परन्तु भविष्य में ही नियत हो सकता है।

× × ×

किसी क्षण को—भाव और शब्द और मधुरता के बल से—अमर कर देना कविता है। यदि अन्तिम प्रभाव सुन्दर है तो इससे प्रयोजन नहीं कि कविता का विषय स्वयं सुन्दर है अथवा नहीं। कंगाल, दरिद्र, कुत्सित,

कुरूपा,—इन के वर्णन से भी यदि सुन्दर भाव उत्पन्न हों, मद, क्रोध, मिथ्या से भी यदि सौन्दर्य्य का विकास हो; नीच, निर्लज्ज, अपमानित व्यक्ति के भी चित्रण से यदि सदुपदेश मिल सके; तो इन विषयों के बहिष्कार करने को किसी को अधिकार नहीं है। इंगलैण्ड के प्रधान राज-कवि मेसफ़ील्ड के एक प्रसिद्ध काव्य का विषय मनुष्य का पाप और दुश्च-रित्र है, और इस का वर्णन इस योग्यता और विलक्षणता से किया गया है, इस का प्रभाव पाठक के चित्त पर इतना अच्छा पड़ता है कि आज कल के साहित्य में इस काव्य का स्थान बहुत ऊँचा है। कहने का अर्थ यह है कि किसी भी विषय का बहिष्कार करना केवल अनावश्यक ही नहीं, हानिकारक है, साहित्य तो जीवन का प्रतिबिम्ब है। सुख-दुःख; आह्लाद-पश्चात्ताप; विनोद-शोक; सौन्दर्य-कौरूप्य; क्रोध-मात्सर्य, घृणा-स्नेह; ऐश्वर्य-दीनता, पाण्डित्य-मूर्खता; भूत-वर्तमान भविष्य; इह लोक-परलोक,—इन सब का, कवि की चित्तवृत्ति के अनु-सार, लेखक के क्षण विशेष के आवेग के प्रभाव से, साहित्य में समावेश होना चाहिए। इस काव्य-संग्रह में—"शूल-फूल" में, अनेक विषयों पर कविताएँ हैं—प्रकृति का वर्णन है, सन्तप्त हृदय की वेदना है, बाल-प्रेमी की सुन्दरता है, मानव संसार के आकुल प्राणियों की पीड़ा हैं, और साथ ही स्वप्नों का उन्माद और आशाओं का अंकुर भी है।

× × ×

कवि ने जीवन के भिन्न भिन्न स्थितियों पर विचार किया है और कुछ पद्यों में अपने सिद्धान्तों का वर्णन किया है। ये सिद्धान्त सम्भव है, समय में, अन्य अनुभवों के कारण, भावान्तर के आवेश में, परिवर्तित हों, किन्तु कुछ ऐसे भी पद्य हैं जिन में के वर्णित भाव काल की सीमा से बद्ध नहीं हैं, जिन का प्रभाव सदा मानव हृदय पर पड़ता रहेगा, उदाहरण स्वरूप, "पापियों से क्रुद्ध के प्रति";

"यहाँ कौन है जग में पापी ?
वह मेरा भूला भाई है,
यह मेरा भोला भाई है,
यहाँ कौन इस जग में पापी ?

बालक हैं थक ही जाते हैं
पल भर कहीं ठहर जाते हैं,
क्या डर है, यदि कठिन मार्ग में
संग न ये शिशु चल पाते हैं ?
कंटकमय जग-जीवन-बन है,
मार्ग निरन्तर, अगम गहन है,
हे गम्भीर, ज्ञान के ज्ञाता !
बालक हैं, थक ही जाते हैं !

महाव्रती हे गहन तपस्वी !
ये लघु शिशु हैं, चंचल-मन हैं
ज्ञान-शून्य, निर्बोध, सरल-चित्
शिशु ससीम हैं, कोमल-तन हैं
देखे फूल, कली, कि सलय-दल,
क्रीड़ातुर हो उठे चपल-चल;
ये क्या जानें जग मिथ्या है,
यह असार जग की माया है;
भ्रमित हुए भूले भृङ्गों से
लगे खेलने नव-रङ्गों से !

प्यास लगी देखी मरीचिका
भूल गये अपनापन मरुमें,
भूख लगी देखे सुवर्णफल
भूले शिशु सोने के तरु में;

कौन नहीं हो उठता चंचल ?
कौन नहीं भूला जीवन में ?
केवल शिशु ही थे, यदि भूले
जीवन-मरु में, तृष्णा-तरु में,
हे इन्द्रिय-जित् ! अहे अचंचल !
ये शिशु हैं कुन्दन-से निर्मल !

विकसित कुसमों की मुस्मिति-मिस
डाली डाली आमंत्रित कर
शूल चुभाती थी,—हा निर्दय—
शिशुओं को यों सम्मोहित कर,
मरु की मिथ्या मृग-मरीचिका
इन्हें भ्रमाती थी जीवन में
तृष्णा नित फैला सुवर्ण-फल
इन्हें लुभाती थी निज बन में
बंचित भ्रमित दुखित नत दुर्बल
ये ही हैं ये पापी निर्बल !

कंटकमय जग-जीवन-बन है
मार्ग निरन्तर अगम गहन है
लो, अब तो निशि भी घिर आई
निर्जन में छाई अँधियारी
ज्ञानवान् हे महापुरुष ! क्या—
छोड़ चलोगे इनको बन में
हे प्रदीप ! क्या इन्हें भटकते—
ही छोड़ोगे इस जीवन में ?
भूले भटके हैं शिशु निर्बल !
ये पापी कुन्दन-से निर्म्मल !!"

या "भिखारी की याचना" शीर्षक कविता—

"प्रभु ! अतुलित तम जगती का
मेरे मानस में भर दो,
घर-घर में, नगर-नगर में
दीपित हों दीपावलियाँ !
विधना ! जग में यदि दुख है
मुझ को दे दो जग का दुख
प्रभु ! ये सब सुख से खेलें—
खेलें जग में सुख निधियाँ !

इनको दो प्रभु ! मुसकानें,
मङ्गल-गायन की तानें,
मेरी आँखों में भर दो
धुँधली आँसू की लड़ियाँ !
चिन्ता, उर-शूल, यातना,
ये मेरे जीवन को दो
जग हो शुभ नन्दन-कानन
क्रीड़ित हों स्वर्णिम परियाँ।
मैं अविरत दुख सह लूँगा
सहलूँगा सभी व्यथायें,
जग में सुख ही सुख भर दो !"
हों मेरी दुख की घड़ियाँ !"

× × ×

उच्च कोटि के काव्य के जहाँ और लक्षण हैं एक यह भी है कि इस के पद स्मरणीय हों, कभी कभी उनके स्वयं दुहराने की इच्छा हो, विशेष अवसर पर वे स्वयं उपस्थित हो जावें। इस ग्रन्थ में कई कविताओं में ऐसे पद मिलेंगे, उदाहरण-स्वरूप मैं कुछ पद उद्धृत करता हूँ—

"जब अन्धकार विश्राम तभी।"
"नव आशाओं का रजत-राज्य"
"मृत्यु में है नवजीवन-दान
अश्रु में आशा की मुसकान।"
"काला अतीत, धुँधला भविष्य,
आँसू का वर्तमान मेरा।"
"न जाने कैसे हैं ये स्तम्भ
लदा है जिन पर जग का भार"
विश्व-वैभव का भार।"
"भूल गया है ईश्वर जग को
पा मादक अधिकार।"
"शान्ति से शान्त।
कभी उदभ्रान्त चपल मृग-शावक से।"
"कैसे जग से नाता तोड़ूँ ?
जिसकी गोदी में खेला हूँ
कैसे अब उससे मुख मोड़ूँ ?"

× × ×

आज कल के कुछ कवियों ने जहाँ हिन्दी-कविता के क्षेत्र को विस्तृत किया है, और पाश्चात्य अर्वाचीन भावों को प्रकट किया है, वहाँ शब्दों के साथ उन्होंने बलात्कार भी किया है। व्याकरण और शब्द-शास्त्र के नियमों से वे स्वतन्त्र रहना चाहते है। 'व्योमिल', 'स्वर्णिम', और 'स्वप्निल'' इत्यादि शब्द कोष में नही मिलेंगे, इसी प्रकार 'अप्सरी' भी ठीक नहीं है, सम्भव है कवि का लक्ष्य भाषा की वृद्धि की ओर हो, 'रहस्यवाद' के चिर परिचित 'जर्जरवीणा' के भी यत्र तत्र इस संग्रह में दर्शन हो जाते हैं।

× × ×

श्री नरेन्द्र में कवित्व-शक्ति है, प्रतिभा है, शब्दों पर आधिपत्य है। पदों में लालित्य है, और भाव चमत्कार है। दिनानुदिन उत्तरोत्तर इनका काव्य अदोष सगुण सालङ्कार होता जाय यही मेरा आशीर्वाद है।'

---

[1] श्री नरेन्द्र द्वारा लिखित "शूल-फूल" (इलाहाबाद, सन् १९३३ ई०) में डा० झा का लिखा हुआ प्राक्कथन।

"सेवाग्राम"[1]

किं कवेः तस्य काव्येन, किं काण्डेन धनुष्मतः ?
परस्य हृदये लग्नं न विघूर्णयति यच्छिरः !

संस्कृत साहित्य में विश्व-प्रेम प्रचुर मात्रा में है, परन्तु स्वदेशप्रेम का चिन्ह कम है। हमारे पूर्वजों का तो मत था "वसुधैव कुटुम्बकम्।" संसार-मात्र एक है, ईश्वर की समस्त सृष्टि एक है, मानव-जगत एक है, ऐसी उन की धारणा थी। परन्तु आधुनिक ऐतिहासिक घटनाओं के कारण सम्पूर्ण जगत में राष्ट्रीयता का भाव फैल गया है। पहले अपना देश, फिर अन्य देश—यह आज का गान है। इस की आवश्यकता भी है। पश्चिमीय सभ्यता के वाह्य आडम्बर से हमारे मन में यह भाव उत्पन्न हो गया है कि जो कुछ आज आविष्कार हो रहा है, जो कुछ हम को अन्य देश में देख पड़ता है, जो कुछ हम विदेशीय साहित्य, विदेशीय राजनीति, विदेशीय दर्शन में पाते हैं वही अनुकरणीय है, और अपने देश की परम्परागत सभ्यता, अपना दर्शन, अपना साहित्य, अपने आदर्श गर्हणीय हैं, तिरस्कार-योग्य हैं। प्राचीनता और नवीनता का समन्वय उचित है। "पुराणमित्येव न साधु सर्वम्," परन्तु नवीन वस्तुओं का ग्रहण करना, केवल इस लिये कि नवीन है, उचित नहीं है। आज की परिस्थिति में हमें यह सोचना है कि हमारे देश के किन आदर्शों को हम सुरक्षित रक्खें

---

[1] श्री सोहनलाल द्विवेदी का राष्ट्रीय कविताओं के संकलन "सेवाग्राम" में (जिसे द्विवेदीजी ने महात्मा गांधी को उनकी ७८वीं वर्षगाँठ पर भेंट किया था) डा० झा द्वारा लिखा हुआ प्राक्कथन।

जिन से हमारा और विश्व का कल्याण हो। हमें यह शिक्षा अपने शास्त्रों से मिलती है कि हमारा प्रधान धर्म है कि अपने चित्त को शान्त रख कर आनन्द प्राप्त करें। हमारा प्रयास विश्व में शान्ति स्थापित करना होना चाहिए। हम सब से सुहृद भाव रक्खें। हम पृथ्वी के जीवन को अपने आरम्भ और अन्त न समझें। हम आदर्शों और अपने कर्त्तव्य के पालन में अपने प्राण खोने से न घबराएँ। जिस ने माया और ममता को छोड़ राष्ट्र सेवा की है उसकी प्रशंसा करें, उसका अनुसरण करें। "सेवाग्राम" में इसी आदर्श को सामने रख कर कविताएँ लिखी गई हैं।

आज के कवियों में श्री सोहन लाल जी द्विवेदी की कविताओं की राष्ट्रीयता तथा प्रभावोत्पादकता से साहित्य-मर्मज्ञ बहुत प्रभावित हैं। आप के काव्य बच्चे आनन्द से पढ़ते हैं, उन का मनोरंजन होता है। युवकों को इससे प्रोत्साहन मिलता है, नई चेतना मिलती है। प्रौढ़ पाठकों के इस में विचार की गम्भीरता दीख पड़ती है। सत्काव्य का लक्षण यह है वह सद्यः हृदयग्राही हो, अतः सोहनलाल जी की कविता अवश्य उच्च कोटि की है। इस में प्रत्येक रुचि को संतुष्ट करने की सामग्री है। देशप्रेम और देश-भक्ति से तो पद-पद अनुप्राणित है। नवीनता के साथ-साथ प्राचीनता का समिश्रण है। अहिंसात्मक जन-आन्दोलन की झलक इन कविताओं में है। और फिर भी कवि का दृष्टिकोण संकुचित नहीं है राष्ट्र के प्रधान प्रशंसनीय विभूतियों का गुण गान तो है, परन्तु ऐसा नहीं कि किसी समुदाय अथवा समाज-विशेष की इस से कोई क्षति हो अथवा अपमान हो। द्विवेदी जी की कृति शिष्ट है, रसपूर्ण तथा शक्तिपूर्ण है। इस से पहले श्री सोहनलाल जी की कविताओं के कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। बालकों के उपयुक्त "झरना," "शिशु-भारती," "बाँसुरी," आदि संग्रह इन को पढ़ कर बच्चे प्रसन्न हो सकते हैं और शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। "वासवदत्ता," हिन्दी-साहित्य में एक अनूठी रचना है। "कुणाल" में बड़ी

कुशलतापूर्ण अतीत भारत की स्मृति के साथ अमर चरित्रों का सुन्दर परिचय मिलता है। "भैरवी" से स्वदेश-प्रेम जागृत होता है। "युगाधार," "पूजागीत," तथा "प्रभाती" राष्ट्रीय चेतना के काव्य-संग्रह हैं। इन कृतियों से कवि को प्रचुर लोक प्रियता तथा सम्मान प्राप्त हुआ है। परन्तु, इस में सन्देह नहीं कि "सेवाग्राम" का स्थान इन सब से ऊँचा है।

'आदर्श' : "विरह गीत" के कवि

इस कविता संग्रह ('विरहगीत') को पढ़ कर भवभूति का "दुःख-संवेदनायैव रामे चैतन्यमाहृतम्" स्मरण होता है। कवि को समस्त संसार विरहमय दिखता है। प्राकृतिक जीवन में, मानव जीवन में, विरह का स्वर सुन पड़ता है। सम्पूर्ण पुस्तक में विरह का भाव है। यह केवल कवि कल्पना नहीं है। कहीं भी कृत्रिमता अथवा अस्वाभाविकता नहीं है। इन कविताओं में हृदय का वास्तविक उद्‌गार है। जो कवि के यथार्थ भाव है उन्हीं का इन में वर्णन है। किसी भी कला की अन्तिम आलोचना इसी पर निर्भर है कि उसमें कलाकार ने अपने सत्य स्वाभाविक भावनाओं को सुन्दर रूप में व्यक्त किया है कि नहीं। हमें खेद भले ही हो कि एक नवयुवक कवि इतनी वेदना का अनुभव करता है, जगत को इतना शोकमय पाता है, जीवन में इतना कम उल्लास और मोद देखता है, उत्साह और उमंग से इतना दूर रहता है। हम भले ही आशा करें कि कालक्रम से उस के चित्त में आनन्द और उल्लास स्थान पाये, वृक्षों में, पवन के झोंके में, नदी के स्रोत में, मनुष्य की आशाओं में, नवजीवन के चिह्न पाये, और अपने पदों में सुख और सफल प्रेम के राग अलापे। परन्तु अभी तो हम यही देखते हैं कि मनोवृत्ति कवि की ऐसी है कि संसार उस को तमोमय ज्ञात होता है। इस समय में हिन्दी कवियों में तो प्रायः कोई लेखक ऐसा नहीं है जिस की कृति में दुःख और अन्धकार और वेदना का स्थान इतना व्याप्त हो जितना इस पुस्तक में है। उर्दू के कवि "फ़ानी" के दीवान में तो दुःख और निरुत्साह आरम्भ से अन्त तक है, परन्तु हिन्दी में श्री राय दुर्गा प्रसादजी रस्तोगी के पद्यों में यह विशेषता उल्लेखनीय है।

सहृदय पाठक अपनी रुचि के अनुसार सरस पदों को चुन लेंगे। मैं कुछ ऐसी पंक्तियाँ उद्धृत करता हूँ जिन में पुस्तक का प्रधान और विशिष्ट भाव स्पष्ट हो जायगा।

(१) बस वेदना ही को जननि
सब सरसता की जान लो।

(२) प्रतिपल केवल बहते जाना।
आठ पहर दुख सहते जाना।
क्या जाने क्या कहते जाना।
भेद भरा कुछ गा कर गाना।
यों ही क्या दिन-रात बहोगे ?
झरने ! क्या तुम कुछ न कहोगे ?

(३) जहाँ न व्यथा वहाँ रस क्या, री,
मत रोओ बसन्त सुकुमारी।

(४) इन्द्र ! तुम्हें क्यों विरह महान् ?
किस के लिए सदा तुम रोते,
आँसू के मोती हो बोते ?
युग युग से निज उर पिघला कर,
विरह-व्यथा में खाते गोते।
सुरपति हो कर भी अज्ञान,
इन्द्र ! तुम्हें क्यों विरह महान ?

(५) विरह-मय संसार दिखता,
अन्धकार अपार दिखता।
प्रति हृदय में इस जगत में
एक हाहाकार दिखता।
जो उजाला तनिक पाता।
क्यों विरह के गीत गाता ?

(६) मरना ही जो मुझे विधाता,
तो यों तिल तिल कर मत मारो।
आग कलेजे में धधका कर,
दृश्य तड़पने का न निहारो।
वह दिन आने के पहले ही,
रहूँ न ढँग करो कुछ ऐसे।
प्रश्न स्वयं मेरा मिट जावे,
फाग मनाऊँगा मैं कैसे ?

एक और इन पद्यों में विशेषता है जिस की ओर मैं पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। इन की भाषा बड़ी सरल है, बोल-चाल की भाषा है। कवि ने कहीं यह चेष्टा नहीं की है कि क्लिष्ट अथवा अपरिचित शब्दों का समावेश करें। आधुनिक हिन्दी कविता में शब्द विन्यास का अनावश्यक प्रभास रहता है। काव्य के समझने के लिए यदि कोष की आवश्यकता हो तो ऐसा काव्य हृदयग्राही नहीं हो सकता। यदि कवि उन्हीं शब्दों का प्रयोग कर सके जो पढ़ने वाला नित्य बोल-चाल में प्रयोग करता है तो कविता सद्यः प्रीति भरी हो जाती है[1]। आदर्श जी को इस विषय में बड़ी सफलता हुई है और यह प्रयत्न सराहनीय है।

---

[1] श्री राय दुर्गाप्रसाद रस्तोगी 'आदर्श' द्वारा लिखित "विरह गीत" (इलाहाबाद, १९४२) में डा० झा द्वारा लिखा गया प्राक्कथन।

ब्रजनारायण चकबस्त और आज-कल की उर्दू-कविता

भारतवर्ष की उन्नति के जहाँ और अनेक साधन हैं वहाँ एक यह भी है—वर्तमान मुख्य मुख्य देशी भाषाओं का ज्ञान। पारस्परिक द्वेष, ईर्ष्या, उदासीनता और मनोमालिन्य के बहिष्कार का एक मूलमन्त्र अन्य जातियों के इतिहास, काव्य, धर्म का परिचय भी है। यद्यपि यह सत्य है कि फ़ारसी और उर्दू जानने वाले हिन्दुओं की संख्या थोड़ी नहीं है, तथापि हिन्दी पत्रों के पाठक कदाचित् ही इन अथवा अन्य भाषाओं की ओर आकर्षित होते हैं। और उन का दोष भी क्या है? हिन्दी-कवियों पर ही उच्च कोटि की समालोचनाओं के पढ़ने का उन को क्या अवसर मिलता है? निष्पक्ष साहित्य चर्चा कठिन है। सुसमालोचक के गुण भी यदि विद्यमान हों, तो उस का साहस और उस का धैर्य्य दुर्लभ है। और फिर यदि कवि जीवित हो अथवा समसामयिक हो तब तो कठिनाई की कोई सीमा नहीं। "दोषा वाच्या गुरोरपि" यह सिद्धान्त उत्तम है, पर गुरु की डाँट, गुरु की श्रद्धा से प्रयुक्त शिष्यों की निन्दा—इन के सहने की शक्ति कहाँ से आवे? यदि कोई समालोचक काव्य अथवा साहित्य के सिद्धान्तों के अनुसार—अथवा स्वयं अपनी रुचि के अनुसार—किसी कवि के ग्रन्थों का अवलोकन करे तो इस में किसी को आपत्ति न होनी चाहिए। सरस्वती के उपासकों में जाति, धर्म, वर्ण इत्यादि का भेद नहीं है। इस मन्दिर में देवी की वीणा की स्वर सब सुन सकते हैं। आराध्य देवी की शुश्रूषा के लिए केवल विद्यानुराग अपेक्षित है। यदि यह है तो और कुछ भी अपेक्षित नहीं। गङ्गा की धारा के सहारे मनुष्य-शव, शिला-

खण्ड, कोमल पुष्प, छोटा तिनका, विशाल तरु,—सब साथ साथ समुद्र तक पहुँच जाते हैं। ऐसे ही सरस्वती की आराधना से युवा और वृद्ध, राजा और रङ्क, आर्य और अन्य जातीय—सब, बराबर, एक ऐसे आनन्द ऐसे सुख का अनुभव करने लगते है जिस का वर्णन दुस्तर है। हीरा चाहे हिन्दुस्तान में मिले, चाहे अफ्रीका में, रहेगा वह हीरा ही। इसी प्रकार साहित्यरसिक और काव्यमर्मज्ञ देश और भाषा की सीमाओं से बद्ध नही रहते, जहाँ भी नये भाव, नये उदाहरण, नये तत्त्व मिलते है, वही उन के हृदय में भक्ति और उत्कण्ठा का सञ्चार होता है। जो आज भारत में अवनति और झगड़े के चिह्न देख पड़ते हैं उन का सम्बन्ध न तो धर्म से है, न साहित्य से और न राजतन्त्र से; उन की उत्पत्ति तो केवल कुटिल, अन्ध-आत्मानुराग से हुई है। 'मजहब नही सिखाता आपस में वैर रखना', और साहित्यक्षेत्र में तो सभी बन्धु-भाव से प्रेरित होते हैं। हिन्दी और उर्दू की लड़ाई कैसी ? इन मे सपत्नी-विद्वेष का सञ्चार कैसा ? हिन्दी हिन्दुओं की नही है, और न उर्दू मुसलमानों की। मुसलमान कवियों ने हिन्दी में बडी ही मनोरञ्जक कवितायें लिखी है और आज-कल भी गद्य और पद्य-लेखकों में कई मुसलमानों की गणना होती है। रही उर्दू, सो यह तो भारतवर्ष की ही है—यही इस का जन्म हुआ, यही इस की उन्नति हुई, यहीं इस का विस्तार हुआ। सर सैयद अहमद की 'आसारु-स्सनादीद' और आज़ाद का 'आबेहयात' देखने से विदित होता है कि हिन्दी और उर्दू का सम्बन्ध कितना घनिष्ठ है। उर्दू के लेखकों में भी हिन्दुओं की गणना होती है। नसीम और सरशार का उर्दू-साहित्य में बड़ा आदर है और अर्वाचीन कवियों में चकबस्त और नज़र सम्मान-नीय हैं।

उर्दू कविता बहुत सङ्कुचित है—ऐसा विचार मैंने चार वर्ष पूर्व प्रकट करने की धृष्टता की थी; इस से मेरा अर्थ किसी जाति विशेष पर आक्षेप करने का कदापि न था। जो मेरी धारणा थी उस को मैंने

प्रकट किया। इसे पढ़ कर मेरे कई मान्य मित्रों ने मुझ पर पक्षपात का दोषारोपण किया। मैंने उस समय कुछ उत्तर देना उचित न समझा। आज-कल के कवियों की कविताओं का श्रमपूर्वक अध्ययन करने पर मेरा विचार यह है कि उर्दू-कविता का क्षेत्र अवश्य परिमित है, अधिकांश कवियों में स्वतन्त्रता लेश-मात्र भी नहीं है, और ऐसे कवि बहुत कम हैं जिन की गणना विश्वसाहित्य में हो सके। इस का यह कोई प्रतिवाद नहीं है कि हर किसी भाषा में जगत्ख्यात कवियों की संख्या बहुत थोड़ी होती है। यह सत्य है, पर उद्देश्य तो हर कवि का यही होना चाहिए कि उस के द्वारा संसार भावों से, स्वप्नों से, सङ्गीत से, आदेशों से, सङ्केतों से सधन हो जाय। आज के कवियों में इक़बाल, चकबस्त, सफ़ी, हसरत —यही चार ऐसे हैं जिन की कविता उच्च कोटि की मानी जा सकती है। इन में जीवनशक्ति है, ये लोकोत्तराह्लाददायक हैं, और इन के द्वारा जगत् नया स्वरूप धारण करता है। इन की कविता में ज्योति और सत्ता है। इन्ही से उर्दू का मान है। यों तो प्राचीन उक्ति है, 'जीवितकवेराशयो न वर्णनीयः' और भविष्यवक्ताओं का कार्य्य है भी अधिक शङ्कापूर्ण, तथापि यह कहना अनुचित न होगा कि इन चार कवियों का स्थान सदा ऊँचा रहेगा। मीर अकबर हुसेन 'अकबर' तो किसी नियम के अन्दर नहीं आते, वे निराले हैं और निराले ही रहेंगे, परन्तु इन चारों ने अपने अपने रङ्ग में अच्छी सफलता प्राप्त की है।

सर मोहम्मद इक़बाल हिन्दुस्तान के कवि होने के पश्चात् अब इस्लाम के कवि हो गये हैं। आदि में तो उन्होंने अनेक प्रभावशाली-कवितायें ऐसी रची जिन को पढ़ने से आज भी रोमाञ्च होता है—

"ग़ुर्बत में हों अगर हम, रहता है दिल वतन में,
समझो वहीं हमें भी, दिल हो जहाँ हमारा॥"
"सूनी पड़ी हुई है मुद्दत से दिल की बस्ती,
आ, इक नया शिवाला इस देस में बना दें।

हर सुबह उठ के गायें मन्तर वह बैठे बैठे
सारे पुजारियों को मय पीत की पिला दें।"

पर अब यह स्वर नहीं सुन पड़ता, अब तो नया अलाप है कि "और मुझे इस की हिफ़ाज़त के लिए पैदा किया।" पर विचार-स्वातन्त्र्य—जो काव्य का प्रधान अङ्ग है—और भाषा पर आधिपत्य, इस में कमी नहीं है। जो कवि ऐसे पदों को कह सकता है उस की प्रशंसा करनी स्वाभाविक है—

"लगती है चोट दिल पर आता है याद जिस दम
शबनम के आँसुओं पर कलियों का मुस्किराना।"
"उठाये कुछ बरक़ लाले ने, कुछ नरगिस ने, कुछ गुल ने,
चमन में हर तरफ़ बिखरी हुई है दास्ताँ मेरी।"
"वतन की फ़िक्र कर नादाँ! मुसीबत आने वाली है
तेरी बर्बादियों के मशविरे हैं आसमानों में।"
"कोई अब तक न ये समझा कि इन्साँ
कहाँ जाता है आता है कहाँ से।"
"उम्मीदे हूर ने सब कुछ सिखा रक्खा है वाअज़ के,
ये हज़रत देखने में सीधे सादे भोले भाले हैं।"
"ढूँढ़ता फिरता हूँ ऐ इक़बाल! अपने आप को,
आप ही गोया मुसाफ़िर आप ही मंज़िल हूँ मैं।"
"क़ैद में आया तो हासिल मुझको आज़ादी हुई
दिल के लुट जाने से मेरे घर की आबादी हुई॥"
"आह! दुनिया दिल समझती है जिसे वह दिल नहीं
पहलूये इन्साँ में इक हंगामये ख़ामोश है।"

मौलाना सफ़ी लखनऊ के उस्तादों में गिने जाते हैं। वैसे तो मुशायरों में इन की प्रशंसा होती ही है, और सब कवियों की जैसे होती है। वहाँ

की तो दशा ही दूसरी है। यह एक प्रश्न विचारणीय है कि मुशायरों से अच्छी कविता की हानि होती है अथवा लाभ। परन्तु यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि मौलाना सफ़ी को सुनने के लिए सभी उत्सुक रहते हैं और जब तक आप अपनी कविता सुनाते रहते हैं, सभी मुग्ध होकर सुनते हैं। उन के शब्दों में इतना रस, उन के स्वर में इतना कारुण्य, उन के नेत्रों में इतना भाव रहता है कि श्रोतागण एक विचित्र सुख का अनुभव करते हैं। इन का वर्णन केवल वही कर सकते हैं जिन को इन के सुनने का सौभाग्य मिला हो—परन्तु उन की कविता को वैसे ही पढ़ने वाले भी सराहे बिना नहीं रह सकते। शब्द-विन्यास में अनीस की बराबरी करना सुलभ नहीं, और कवितानुरूप भाषा का प्रयोग करते हुए दार्शनिक तत्त्वों का संसार की जटिल समस्याओं का, नवीन भावों का समावेश करना मौलाना सफ़ी का ही काम है। इन की कविता इतनी मधुर होती है कि भ्रम यह होता है कि उस में गाम्भीर्य्य की कमी होगी, पर यह भ्रम-मात्र है। कौन कहेगा कि यह पद्य उच्च कोटि के नहीं हैं?—

"वहाँ पै जा के जो देखा वो कुछ सुना न सके,
राहे अदम के मुसाफ़िर पलट के आ न सके।"

"बचा कर चले ख़ाक से अपना दामन,
लहद पर जो गुज़रे हया करनेवाले।
अभी है बुतों को ख़ुदाई का दावा,
ख़ुदा जाने क्या और हैं करनेवाले।"

"फिर भी राहे अदम में हैं तनहा
साथ गो क़ाफ़िला रवाना है।
आशिक़ी ज़िन्दगी का है इक नाम,
ज़िन्दगी मौत का बहाना है।
ज़िक्रे जन्नत बहुत सुना वाअज़!
शाख़ दरशाख़ इक फ़िसाना है।"

"मेरे वाक़या को सुन कर जो असर हुआ भी तो क्या ?
न सरे जनाज़ा आये, न सरे मज़ार आये।
न शरर थे हम, न शबनम, मगर इत्तफ़ाक़ ये भी,
कि इस अंजुमन में ले कर दिले बेक़रार आये।"
"देखिये क्यों ? कोई तुर्बत होगी,
देख कर और नदामत होगी।
ज़ङ्ग आलूदा इक आईना सही,
दिल की आखिर कोई क़ीमत होगी।
ख्वाब देखा है कि मर मर के जिये
किसी काफ़िर से मुहब्बत होगी।
न तो वाअज़ को ख़बर है, न मुझे,
किसे दोज़ख़ किसे जन्नत होगी।
दिल में रक्खें तो क़ुदूरत कहलाये
मुँह से निकले तो शिकायत होगी।"
"बादल गरजा, बिजली चमकी, रोई शबनम, फूल हँसे,
मुर्ग़े सहर को हिज्र की शब के अफ़साने दुहराने दो।
राहे मुहब्बत के कुछ ज़र्रे चुन चुन कर ऐ बेदर्दो !
दिल के टुकड़े जोड़ रहा हूँ, इन का जोड़ मिलाने दो।
हुस्न की गर्मागर्मी ने क्या कान में इन के फूँक दिया,
शमअ़ से कहते हैं परवाने, अब हमको जल जाने दो।
जोशे बहार तो आवे, फिर जोशे जुनूँ की क़हत नहीं।
कूकेगी कोयल बाग़ों में, बौर आमों में आने दो।।"

मौलाना हसरत मोहानी ने भी कुछ अंश में नई वस्तुओं का और नये विचारों का वर्णन किया है। उर्दू शायरों के समान—अथवा सभी भाषा के कवियों के समान—इन में भी अहङ्कार की यथेष्ट मात्रा है।

"है ज़बाने लखनऊ में रंग देहली की नमूद
तुझ से हसरत ! नाम रोशन शायरी का हो गया।"

परन्तु सच यह है इन के कुछ पद यथार्थ में प्रशंसनीय हैं—इन की संख्या कम है, परन्तु इन थोड़े पद्यों में ये अपनी कवित्व-शक्ति का पूर्ण परिचय देते हैं—

"हमारी दास्ताने बेक़रारी भी सुना दीजो,
गुज़र तेरा तो ऐ बादे सबा ! उन के मकाँ तक है।"
"याद में तेरी न दुनिया ही से बेज़ार थे हम,
खुल्द में भी तो मुख़ातिब न हुये दूर से हम।"
हाल सुनते वो क्या मेरा हसरत !
वह तो कहिये सुना गईं आँखें।"
"रस्मे जफ़ा कामियाब, देखिये कब तक रहे,
हुब्बे वतन मस्ते ख़राब, देखिये कब तक रहे।
है तो कुछ उखड़ा हुआ बज़्मे हरीफ़ां का रङ्ग,
अब यह शराब वो कबाब़, देखिये कब तक रहे।"

इन आज के कवियों के उल्लेख करने से प्रयोजन केवल इतना था कि यह देख लिया जाय कि उर्दू-कविता में चेतना है और जीवित रहने की शक्ति भी है। कविम्मन्य तो असंख्य हैं ही, सुकवि भी हैं। इन्हीं सुकवियों में एक का अभी कुछ महीने हुए देहावसान हुआ। मुझे इन से भली भाँति परिचय था, मुझ पर इन की बड़ी कृपा थी, और मैं इन की सुजनता और सरलता पर मुग्ध था। अभिमान या अहङ्कार तो इन के पास न आने पाया। मुख पर सदा गम्भीराकृति, नेत्रों में एक तेज था। कोई आडम्बर का नाम नहीं। ऐसे सज्जन का, सुकवि का, इतनी अल्प अवस्था में मृत्यु हो गई, ऐसे अवसर पर और क्या कहा जा सकता है—

"सृजति तावदशेषगुणाकरं
पुरुषरत्नमलंकरणं भुवः।
तदपि तत्क्षणभंगि करोति चे-
दहह कष्टमपण्डितता विधेः।"

पण्डित ब्रजनारायण चकबस्त की कविताओं का संग्रह अभी, थोड़े दिन हुए, प्रयाग के इंडियन प्रेस से, "सुबह-वतन" के नाम से प्रकाशित हुआ है। उर्दू-साहित्य में इस पुस्तक का बड़ा सम्मान होना उचित है।

मैंने जो इस लेख के प्रारम्भ में साहित्य को जाति-भेद-रहित कहा है और उर्दू को सब की—न किसी सम्प्रदाय-विशेष की—भाषा कहने का साहस किया है, उस का अर्थ यही है कि ऐसे कवि की, उर्दू-प्रेमियों में, सुचारु रूप से योग्यता और उत्तमता स्वीकृत हो जाय। आशा तो यही है कि निष्पक्ष भाव से जो कोई इन की कविता को पढ़ेगा वह इन की विशेषताओं पर मुग्ध हुए बिना नहीं रहेगा। रचनाशैली, शब्दों पर अधिकार, उपमाओं और अलङ्कारों का समावेश, जातीय जागृति के तान देशप्रेम के सुर, स्वर्गगत नेताओं की पुण्य स्मृति, प्रवासी भारतीयों के प्रति सहानुभूति, प्रेमी की कथायें, प्रकृति का वर्णन—इन सभी अंशों में और और विषयों पर चकबस्त की उत्तम कवित्व शक्ति का प्रमाण वर्तमान है। यह कल्पना वृथा है कि इन के काव्य पर किस लेखक का प्रभाव है। कवि जो कुछ कहीं पढ़ता है, जो देखता है, जो सुनता है, जिसका उसे स्वयं अनुभव होता है, जो स्वयं उस के मस्तिष्क में उत्पन्न होता है, जो उस के स्वप्न होते हैं, उस की वासना होती है—इन सब का प्रभाव उस की कृति पर पड़ता है। अनीस और नसीम की काव्यकला का चकबस्त बड़ा आदर करते थे, पर उन की कविता स्वयं उन की—चकबस्त की—ही थी और अपने रङ्ग की अनोखी थी। प्रधानतः इन के काव्य में चार रङ्ग पाये जाते हैं—स्नेह और शृङ्गार का; उपदेश का; देशभक्ति का; नेताओं के गुण गान का।

उर्दू की ग़ज़लें प्रेम का भाण्डार हैं। हर प्रकार से, हर समय का, प्रेम का चित्र ग़ज़लों में अङ्कित किया गया है। प्रेमिका का कोप, उसकी कठोरता, उसकी विलासप्रियता, उसका स्वाभिमान, उसकी निरङ्कुशता, उसकी स्वेच्छाचारिता, इत्यादि अनेक गुणों–अथवा दोषों के वर्णन से ग़ज़लें पूर्ण हैं। प्रेमी रोता है, विनती करता है, मर जाता है क़ब्र के अन्दर से आसरा देखता है। फिर भी नायिका को दया नहीं आती है और यदि आती है तो अनूठी रीति से। बस यही विषय है, इतनी सीमा है। दो सौ वर्ष से ग़ज़लों में यही बातें रहती आई हैं। उपमायें खोजे नहीं मिलतीं, प्रेमी को कोई अपूर्व-वर्णित दशा सूझती नहीं, फिर फिर वही दृश्य सम्मुख आता है। वही दृष्टान्त सामने आते हैं, गुल और बुलबुल शमअ़ और परवाना–इन्हीं का सहारा लेना पड़ता है। पाठक समझ सकते हैं कि ऐसी दशा में नई रीतियों का आविष्कार करना कितना दुरूह है। चकबस्त ने इस रङ्ग में भी अच्छी सफलता प्राप्त की है। "मज़हबे शायराना" में कहते हैं–

"कैफ़यिते गुलशन है मेरा नशा का आलम,
कोयल की सदा नारये मस्ताना है मेरा।
आशिक़ भी हूँ माशूक़ भी यह तुर्फ़ा मज़ा है।
दीवाना हूँ मैं जिसका वह दीवाना है मेरा"।

नीचे के पद्यों में कितनी निराशा, कितना दुःख और साथ ही कितना आत्म-समर्पण भरा है–

"एक साग़र भी इनायत न हुआ, याद रहे,
साक़िया ! जाते हैं, महफ़िल तेरी आबाद रहे।
बाग़बाँ दिल का वतन को यह दुआ देता है,
मैं रहूँ या न रहूँ यह चमन आबाद रहे।
हुक्म माली का है यह फूल न हँसने पायें,
चुप रहे बाग़ में कोयल मगर आज़ाद रहे।"

पुरानी बातों को नई रीति से कहने में भी कुशलता अपेक्षित है। इस नई रीति के अवलोकन से ही एक प्रकार का सन्तोष होता है--

मय जवानी है मेरी, दिल मेरा मयख़ाना है,
यहाँ सुराही है, न शीशा है, न पैमाना है।
रुख़ साक़ी की तरफ़, हाथ में पैमाना है,
रहनुमा आज तेरी लग़ज़िशे मस्ताना है।
आई है लाश उठाने को नसीमे सहरी
छूटता बादे फ़ना शमा से परवाना है।
ले चली बज़्म से किस वक़्त मुझे मर्गे शबाब
लब तक आया भी नहीं हाथ में पैमाना है।"

इसी रंग के कुछ और पद्य हैं--

'फ़िक्रे मीना क्यों है साक़ी ? क्यों तलाशे जाम है ?
तू लगा दे मुँह से ख़ुम पीना हमारा काम है।
मुझसे रौशन इन दिनों दैरो हरम का नाम है,
पाये बुत पर है जबीं लब पर ख़ुदा का नाम है।
सुबह को शबनम के मोती बाग़ में चोरी गये
फूल किरनों से यह कहते हैं तुम्हारा काम है।
देखना है हुस्न के जलवे तो बुतख़ाने में आ,
तेरे काबे में तो वाअज़ बस ख़ुदा का नाम है।
मेरे मज़हब में है वाअज़ तर्के मयनोशी हराम,
छोड़ कर पीता हूँ फिर तोबा इसी का नाम है।"

उपदेश देना भी कवियों का कर्त्तव्य है, चाहे स्पष्ट, प्रकट रूप से अथवा इशारों से। चकबस्त के ग्रन्थ में उपदेशात्मक पद्यों की कमी नहीं है--संस्कृत-काव्य साधारणत: तीन भागों में विभक्त होता है--कान्तासम्मित, सुहृत्सम्मित प्रभु सम्मित। इन तीनों के उदाहरण चकबस्त की कविता में मिलते हैं--

"रविशे ख़ाम पै मर्दो की न जाना हर्गिज़,
दाग़ तालीम में अपनी न लगाना हर्गिज़।
रंग है जिन में मगर बूये वफ़ा कुछ भी नहीं,
ऐसे फूलों से न घर अपना सजाना हर्गिज़।
पूजने के लिए मन्दिर जो है आज़ादी का,
उस को तफ़रीह का मर्कज़ न बनाना हर्गिज़।
काग़ज़ी फूल विलायत के दिखा कर इनको,
देश के बाग़ से नफ़रत न दिलाना हर्गिज़।
गो बुज़ुर्गों में तुम्हारे न हो इस वक़्त का रंग,
इन ज़ईफ़ों को न हँस हँस के रुलाना हर्गिज़।"
"और होंगे जिन्हें रहता है मुक़द्दर से गिला,"
और होंगे जिन्हें मिलता नहीं मिहनत का सिला,
मैंने जो ग़ैब की सरकार में माँगा वह मिला,
जो अक़ीदा था मेरे दिल का हिलाये न हिला,
क्यों डराते हैं अबस गबरू मुसलमाँ मुझको,
क्या मिटायेगी भला गर्दिशे दौराँ मुझको।"
"कोई सौदाये मुहब्बत का ख़रीदार नहीं,
जोशे उल्फ़त की ज़रा गर्मिये बाज़ार नहीं,
पीठ के पीछे बुरा कहने में कुछ आर नहीं,
जो है रफ़्तारे ख़यालात वह गुफ़्तार नहीं,
फ़र्क़ क्या ज़ाहिरो बातिन का बुरा होता है,
जो ज़बाँ कहती है दिल सुन के उसे रोता है।"

देश के नेताओं की स्मृति में चकबस्त की कवितायें एक से एक बढ़-कर हैं। उन से यहाँ चुन कर उद्धृत करना कठिन है, किसे लिखें, किसे छोड़ दें। जातीय प्रतिस्पर्द्धा, जात्यभिमान, देशगौरव इन का सञ्चार इन पद्यों से होता है—

(बिशननारायण दर पर)

सदमये आम है यह क़ौम का प्यारा न रहा,
बेज़बानों की ज़बाँ दिल का सहारा न रहा,
गुल्शने इल्मो अदब का चमन आरा न रहा,
मतलये दानिशोबीनिश का सितारा न रहा,
सब ये ग़म एक तरफ़, एक तरफ़ ग़म अपना,
जिस से दुनिया नहीं वाक़िफ़ वह है मातम अपना।

(गोखले पर)

लरज़ रहा था वतन जिस ख़याल के डर से,
वह आज ख़ून रुलाता है दीदये तर से,
सदा यह आती है फल फूल और पत्थर से,
ज़मीं पै ताज गिरा क़ौमे हिन्द के सर से,
हबीब क़ौम का दुनियाँ से यों रवांना हुआ
ज़मी उलट गई क्या मुन्क़लिब ज़माना हुआ।

पर इन सब में ओजस्विनी कविता तिलक की मृत्यु पर है—

मारका सर्द है सोया है वतन का सरदार
तनतना शेर का बाक़ी नहीं, सूनी है कछार।
बेकसी छाई है तक़दीर फिरी जाती है
क़ौम के हाथ से तलवार गिरी जाती है।
मौत महाराष्ट्र की थी या तेरे मरने की ख़बर
मुर्दनी छा गई इन्सान तो क्या, पत्थर पर।
पत्तियाँ झुक गईं मुरझा गये सहरा के शजर
रह गये जोश में बहते हुये दरिया थम कर।
सर्द शादाब हवा रुक गई कुहसारों की
रौशनी घट गई दो चार घड़ी तारों की॥

चकबस्त को करुणरस पर भी बड़ा अधिकार था। जो गोवर्द्धन ने भवभूति के लिए कहा था, हम चकबस्त के लिए भी कह सकते हैं —

"एतत्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा।"

और यदि यह सत्य है कि 'एको रसः करुण एव' तो चकबस्त की विशिष्टता प्रत्यक्ष है—

"यों तो दुनियाँ में हमेशा से है मरने का चलन'
अपने बच्चों को निगलती है ज़मीं की नागिन।
दाग़ देता है मगर जब कोई दिल सोजे वतन
इस के सदमे से लरज़ता है यह ऐवाने कुहन।
चाँदनी रात में जिस वक़्त हवा आती है
क़ौम के दिल के धड़कने की सदा आती है।।"

"हंस के हर इक बात पर वह जुम्बिशे अबरू कहाँ,
इक नज़र देख कि अब हम कहाँ और तू कहाँ"

"ऐ मुहब्बत के फ़रिश्ते! ऐ बक़ा के आफ़ताब!
तेरे सीने में सफ़ा थी जैसे आईने में आब।
वास्ते दुश्मन के भी लाया न तू दिल में अताब
आज क्यों आता है तुझको भाई बहिनों से हिजाब?
आज तू सुनता किसी की गिरिअओ ज़ारी नहीं
ओ अदम के जानेवाले यह वफ़ादारी नहीं।।"

"फूल जब गुलज़ार में लायेंगे पैग़ामे बहार
याद करके तुझको यों रोयेगा तेरा सोगवार।
'खिल के गुल कुछ तो बहारे जाँफ़िज़ा दिखला गये,
हसरत उन ग़ुंचों पै है जो बिन खिले मुरझा गये।।"

पर मातम, यास, हसरत, इन्तज़ार, इनसे समस्त उर्दू-कविता भरी हुई है। आशिक़ का मर मर के सहर करना, बुलबुल का रुसवायेबहार होना, परवाने का शमअ में जल जाना, दर्द और ग़म से शनासाई, साक़ी

का मयख़्वार के क़रीब न आना—इन की चर्चा तो हर एक उर्दू-कवि करता है। चकबस्त ने स्वदेश-प्रेम के गाने भी गाये हैं। यही इन की प्रधान विशेषता है। देश-भक्ति के रङ्ग में रङ्ग कर इन्होंने ऐसे ऐसे उन्मत्त करने-वाले राग अलापे हैं, ऐसी मर्मघातक कवितायें रची हैं, इतनी हृदय-ग्राहिणी बातें वर्णन की हैं कि इन का समश्रेणिक कवि दूसरा नहीं है। स्वदेश-सङ्गीत के एक एक पद्य ऐसे हैं कि वृद्धों और बालकों में भी स्फूर्ति और उत्तेजना उत्पन्न होती है—

"अगली सी ताज़गी है फूलों में औ फलों में,
करते हैं रक्स ताऊस अब तक जंगलों में।
अब तक वही कड़क है बिजली की बादलों में,
पस्ती सी आ गई है पर दिल के हौसलों में।
गुल शमये अंजुमन है गो अंजुमन वही है
हुब्बे वतन नहीं है ख़ाके वतन वही है॥"
"शैदाये बोस्ताँ को सर्वोसमन मुबारक,
रंगीं तबीयतों को रंगे सुख़न मुबारक।
बुलबुल को गुल मुबारक गुल को चमन मुबारक,
हम बेकसों को अपना प्यारा वतन मुबारक।
गुँचे हमारे दिल के इस बाग़ में खिलेंगे
इस ख़ाक़ से उठे हैं, इस ख़ाक़ में मिलेंगे॥"
"हुक्म हाकिम का है फ़र्यादे ज़बानी रुक जाय
दिल की बहती हुई गङ्गा की रवानी रुक जाय।
क़ौम कहती है हवा बन्द हो पानी रुक जाय।
पर यह मुमकिन नहीं अब जोशे जवानी रुक जाय॥
हों ख़बरदार जिन्होंने यह अज़ीयत दी है
कुछ तमाशा यह नहीं, क़ौम ने करवट ली है॥"

चकबस्त किस श्रेणी के कवि थे, इस को पाठकों ने देख लिया होगा।

सिद्धान्त के वाक्य भी इन के वाक्यों में बहुत हैं; जिनका यहाँ स्थानाभाव से उल्लेख नहीं हो सकता। अपने काम में लगे हुए, सुहृदों के स्नेह के भाजन, सज्जनता की सौम्यमूर्ति, ब्रजनारायण 'चकबस्त' अब संसार में नहीं हैं। इन की स्मृति से ही अब उन के मित्र-गण अपने को पुनीत कर सकते हैं। वह स्वयं कह चुके हैं—

"दिल पै अहबाब के है दाग़े मुहब्बत बाक़ी'
रह गई इक यही दुनिया में निशानी बाक़ी।"

पर सच तो यह है कि साधारण जनता के लिए, काव्य-रसिकों के लिए, इन का ग्रन्थ उन की "निशानी" है। इस "सुबह-वतन" में प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचि की कोई न कोई कविता पा सकता है और उस को पढ़ कर, उस से द्रवीभूत हो कर, यही कहेगा कि कवि के वचन यथार्थ हैं—

"किस वास्ते जुस्तजू करूँ शुहरत की?
एक दिन खुद ढूँढ़ लेगी शुहरत मुझको।"[१]

---

[१] "सरस्वती" के भाग २८, संख्या २, में प्रकाशित एक लेख।

ख़्वाजा मीर 'दर्द'

साधारणतः यह माना जाता है कि चार कवियों ने उर्दू भाषा को सँवारा और उसका परिमार्जन किया है--जानजानाँ, सौदा, मीर और दर्द। इस से यह न समझना चाहिए कि उन की कृतियों में अप्रचलित प्रयोग नहीं हैं; उन के अनेक प्रयोग अब "मतरूक' हो गए हैं। उन का व्याकरण-विन्यास अनेक स्थलों पर आज अटपटा जान पडता है, उन के द्वारा व्यवहृत अनेक शब्दों के अर्थ आज बदले हुए हैं। लेकिन इन चार कवियों ने उर्दू भाषा को एक प्रामाणिक साहित्यिक रूप प्रदान किया। यह भाषा इस समय तक देश की भावनाओं से इतनी विलग नहीं हुई थी इस में अब भी हिन्दी के शब्द अच्छी संख्या में घुले-मिले थे; देशज शब्दों का इतनी कड़ाई से वहिष्कार नही हुआ था। यह पृथक्करण तो आगे आने वाला था। ग़ालिब, आतिश और नासिख़--इन्होंने मुख्यतः उर्दू को फ़ारसी के निकट लाने का प्रयत्न किया और उस से देशी शब्दों को इस प्रकार निकाला कि सर्वनामों, क्रिया-विशेषणों और क्रियारूपों को छोड़ कर यह भाषा इस देश के लोगों के लिए एक अपरिचित वस्तु बन गई।

यदि उर्दू का विकास भारतीय भाषा और भारतीय साहित्य के रूप में हुआ होता तो यह साधारण जनता में विशेषतर ग्राह्य हुई होती, और कतिपय शहर के रहनेवालों अथवा दरबारियों तक इस का क्षेत्र सीमित न रहता। लेकिन यह एक दूसरी ही कहानी है।

'दर्द' का जन्म ११३३ हिज्री में हुआ, और मृत्यु ११९९ हिज्री में। इस प्रकार वह उर्दू के प्रारम्भिक कवियों में थे। ख़्वाजा मीर--यही उन का पूरा नाम था--ख़्वाजा नासिर के बेटे थे। ख़्वाजा नासिर

का जन्म हिन्दुस्तान में ही हुआ था, यद्यपि उन के पिता यहाँ बुखारा से आए थे। अपनी युवावस्था में 'दर्द' ने सुख के दिन बिताए और जीवन के आनन्द भोगे। लेकिन जब उन की आयु २८ वर्ष की हुई, तब उन के रहन-सहन के क्रम ने पलटा खाया, आराम का जीवन छोड़ कर उन्होंने धार्मिक वृत्ति ग्रहण कर ली। बहुत प्रारम्भ से उन्होने साहित्य-क्षेत्र को अपना लिया था, और अन्त तक वह इसी क्षेत्र में रहे। संगीत से उन्हे बड़ा प्रेम था और महीने में दो बार उन के यहाँ सगीत की महफ़िलें जमती थीं। उन्होंने कई पुस्तकें रची, जिन में एक 'दीवान' फ़ारसी में भी है और कुछ धार्मिक रचनाएँ भी है। फारसी 'दीवान' में ग़जलें, रूबाइयाँ, और मुखम्मस है। इस लेख में केवल उन के उर्दू 'दीवान' का चर्चा किया जायगा।

मीर तक़ी 'मीर' ने अपने 'तज़क़िरे' मे 'दर्द' की अच्छी प्रशसा की है और अपने समसामयिकों में 'दर्द' को जो प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त था उस का वर्णन किया है। यह बात भी भली भाँति ज्ञात है कि स्वयं 'मीर' पर 'दर्द' का बड़ा प्रभाव रहा है। 'मीर' का कहना है कि 'दर्द' ने उर्दू की मुर्दा हड्डियों में नई जान फूँकी और साहित्यिक सुरुचि की परम्परा स्थापित की। उन के कई शिष्यों—'असर', 'क़ायम', 'फ़ारग़', 'निसार', 'आलम', को उस समय के कवियों में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त है। कविता के सम्बन्ध में उन का जैसा ऊँचा आदर्श था, और जिस लगन के साथ उस में पवित्रता लाने का वह प्रयत्न करते थे—यह बातें विशेष रूप से वर्णनीय हैं। अपने किसी गद्य लेख में उन्होंने यह दावा किया है कि 'मैंने किसी पर व्यक्तिगत आक्षेप करने के लिए या किसी को बदनाम करने के लिए पद्य का उपयोग नहीं किया और प्रेम-विषयक रचनाओं में भी वह अर्थ लगाना उचित न होगा जो साधारणतः लगाया जाता है।' फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि प्रेम के मधुर और मृदु भावों से ही उन की सब से अच्छी पंक्तियाँ प्रेरित है। उन की रचनाओं में कोई

हलकापन नहीं है, लेकिन "मै" और "मैख़ाने' का चर्चा उनके यहाँ कम नही। अधिकतर उनका ध्यान दार्शनिक प्रसंगों, मृत्यु के उपरांत जीवन और सनातन तत्वों की ओर ही गया है, और समालोचकों ने 'दर्द' की गिनती उन कवियों में की है जिन्होंने इश्क़ हक़ीक़ी, ईश्वरीय प्रेम, की कविताएँ रची हैं, 'इश्क़ मजाज़ी' ऐहिक प्रेम की नहीं।

उन की भाषा के विषय में दो शब्द कहना उचित होगा। उर्दू का जन्म हिन्दुस्तान ही में हुआ और अपने प्रारम्भिक विकास में इस ने बहुत से शब्द और मुहावरे जो इसी देश के थे अपनाए। पुराने कवियों ने बहुत से इसी देश के छन्दों का उपयोग किया। लेकिन कुछ समय बाद यह बातें बदल गईं और उर्दू फारसी की एक शाख़ा मात्र बन गई। भारतीय शब्दों का कड़ाई से बहिष्कार हुआ और भारतीय छन्द भी त्याग दिए गए। 'दर्द' इस परिवर्तन-काल के कवि है और उन की कविताओं में हमें ऐसे अनेक शब्द मिलते हैं जो अब 'मतरूक' या बर्जित हो गए है।

यहाँ पर यह विचार करने का अवसर है कि यदि आरम्भ में ही इस अलगाव की प्रकृति पर रोक-थाम रक्खी गई होती, तो हिन्दी और उर्दू के बीच में जैसी खाई उपस्थित हो गई है न हुई होती। यदि यह कहा जाय कि उर्दू के विकास के पीछे यह इच्छा रही है कि इसी देश में उपयोग के उद्देश्य से एक भाषा का विकास किया जाय, तो यह समझ में नहीं आता कि देशज शब्दों को क्यों बर्जित किया गया और उन के स्थान पर विदेशी उद्गम के शब्द भरना क्यों आवश्यक हुआ। लेकिन जो बात स्पष्ट है वह यह है कि 'मीर' और 'दर्द' की रचनाओं में हमें हिन्दी के बहुत से शब्द मिलेंगे जिन का उर्दू कवियों के यहाँ अब कोई उपयोग नहीं। उदाहरण के लिए नीचे कुछ पंक्तियाँ दी जाती है :—

(१) गर्चे वह ख़ुरशेद-रू **नित** है मेरे सामने।

(२) **जग** में आ कर इधर उधर देखा।

(३) हो गए आँखों ही में दो दो **बचन**।
(४) अगर आईना दर चार आईना पहने न हो **सन्मुख**।
(५) हम ही इस वहशत सरा से नहीं **उदास**।
(६) गुल अगर **सन्मुख** हो बाज़े **भेद** कुछ खा कर गए।
(७) दिल पै आफ़त **निदान** है प्यारे।
(८) **निपट** मस्त है बूए नरगिस चमन में।

'दर्द' ने अपने अन्य समसामयिकों की भाँति, वाक्यों मे अनेक ऐसे प्रयोग किए हैं, जो अब प्रचलित नहीं और उन में पुरानेपन का रस है। उन में से कुछ तो ऐसे भले प्रतीत होते हैं कि उन के छोड़ दिए जाने का दुख होता है। एक बात जो विशेष कर सामने आती है वह 'ने' विभक्ति का प्रयोग न किया जाना है। इस का प्रयोग अन्य प्रान्त वालों को बड़े असमन्जस में डाल देता है। नीचे लिखे शेर में पहली पंक्ति में 'ने' छोड़ दिया गया है :—

कहा जब मैं तेरा बोसा तो जिन्से क़न्द है, प्यारे।
लगा तब कहने पर क़न्दे मुक़र्रर हो नहीं सकता।

वैसा ही इस शेर की दूसरी पंक्ति में हुआ है :—

हाल सुन सुन मेरा लगा कहने।
मैं **सुना** कुछ न क्या कहा तूने ॥

नीचे के शेरों में भी पुराने ढङ्ग के प्रयोग हैं :—

उस की बातें मुझ से **क्या पूछो हो** तुम ?
मुद्दतें गुज़रीं कि देखा भी नहीं।

दिल भी तेरा ही ढङ्ग सीखा है।
आन में कुछ है, आन में कुछ है।

ग़ज़ल मुख्यतः प्रेम की भावनाओं के उद्‌गार का माध्यम है। जब कोई सूफ़ी कवि प्रेम की चर्चा करता है तो अनुमान यह किया जाता है कि वह ईश्वर के प्रति प्रेम का वर्णन कर रहा है और वह सभी चित्रण और प्रतीक जिस से कि फ़ारसी और उर्दू के कवि परिचित हैं, अपने शाब्दिक अर्थ में न लिए जा कर एक रहस्यवादी अर्थ में ग्रहण किए जाते हैं। 'दर्द' ने अपनी पंक्तियों में इसी अर्थ का संकेत किया है या नहीं, यह कहा नहीं जा सकता। फिर भी 'दर्द' ने प्रेम के सभी पहलू चित्रित किए हैं—प्रियतम की क्रीड़ाएँ, प्रेमी की प्रार्थना, आकांक्षा, हताश होना, आशा की सिहर, अस्वीकृति का भय, प्रतिस्पर्द्धी का ईर्ष्याभाव, वियोग की लंबी रातें, असह्य एकाकीपन, 'हश्र' के दिन मिलन की लालसा, नेत्र के कटाक्ष—सभी का वर्णन हुआ है।

(१) जान से हो गए बदन ख़ाली।
जिस तरफ़ तूने आँख भर देखा॥

(२) हम न कहते थे, मुँह न चढ़ उस के।
'दर्द' कुछ इश्क़ का मज़ा पाया ?

(३) कितनों बन्दों को जान से खोया।
कुछ ख़ुदा का तूने डर न किया॥

(४) अज़ीयत, मुसीबत, मलामत, बलाएँ।
तेरे इश्क़ में हम ने क्या क्या न देखा॥

(५) 'दर्द' हम उस को तो समझेंगे पर।
अपने तईं आप भी समझाइएगा॥

(६) अपनी आँखों उसे मैं देखूँ।
ऐसा भी कभू ख़ुदा करेगा ?

(७) पैग़ामे यास भेज न मुझ बेक़रार तक।
हूँ नीम जान सो भी तेरे इन्तिज़ार तक॥

और भी, शराब और 'तौबा', 'वायज़' और 'मैख़ाना' विषयक अनेक शेर हैं जिन में नवीनता और आकर्षण है। यहाँ भी वही प्रश्न उठता है कि यह अंगूर का रस है अथवा दैवी अमृत, और स्फुरणा शारीरिक मात्र है या आधिभौतिक। इस का उत्तर शेर ही देंगे :—

(१) साक़ी किधर है कश्तिए मै ?
अब के खेवे में पार हैं हम।

(२) आतिशे मै से जो साक़ी ने इसे भड़काया।
ज़ाहिदे ख़ुश्क हुआ ख़ूब ही तर पानी में ॥

(३) दोनों जहाँ की न रही फिर ख़बर उसे।
दो प्याले तेरी आँखों ने जिस को पिला दिए ॥

(४) साक़िया याँ लग रहा है चल चलाव।
जब तलक बस चल सके साग़र चले ॥

(५) ला गुलाबी दे मुझे साक़ी कि याँ मजलिस ही।
खाली हो जाए है पैमाने के भरते भरते ॥

लेकिन 'दर्द' की रचना अपने सर्वोत्कृष्ट रूप में हमारे सामने तब आती है जब वह किसी गहरे विचार को, जीवन और मृत्यु संबंधी किसी गहन कल्पना को अथवा किसी ऐसे सत्य को जिस की उन्हें झलक मिली है स्मरणीय शब्दों में अपने शेरों में बाँधते हैं। स्वभावत: वह इस्लाम धर्म से प्रभावित हैं—और उन की कविता में हमें कोई भी ऐसी बात न मिलेगी जिस पर कट्टर से कट्टर मुसल्मान को आपत्ति हो—साथ ही उस में कदाचित् ही कोई ऐसी बात होगी जिसे दूसरे धर्मावलंबी ग्रहण न कर सकें। यह निश्चय ही एक बड़े कवि और कलाकार की कसौटी है कि वह अपने युग, अपने देश की सीमा और अपनी परिस्थितियों से ऊपर उठ कर मनुष्य मात्र का प्रतिनिधित्व कर सके। अनेक शेरों में ईश्वर की व्यापकता वर्णित है, ईश्वर के देश में अनंत वसंत होते हैं, जो कुछ है अपने सार रूप में दैवी है, देखने में चाहे वह इस से विपरीत प्रतीत हो।

एक दूसरे शेर में वह बताते है कि अश्रु और हास के बीच में कितनी पतली विभाजक रेखा है । कोई यात्री आज तक मृत्यु के बाद के जीवन का वर्णन करने के लिए नहीं लौटा है । ईश्वर की बातें बुद्धिगम्य नही हैं और उन की व्याख्या करने का प्रयत्न व्यर्थ है । वह पुष्प जो किसी समय उद्यान की शोभा थे, कुम्हला कर अज्ञात में नष्ट हो जाते है । जो वस्तु एक व्यक्ति के लिए सुखकर है वही दूसरे के लिए दुखद हो जाती है । जीवन एक क्षणिक जागरण है और मृत्यु एक लंबी शांत निद्रा है, लेकिन खेद की बात है कि कुछ लोगों के लिए यह निद्रा 'हश्र' के दिन की आशाएँ और विचार-स्वप्न उत्पन्न करती है । पुष्प मनोहर अवश्य है लेकिन काँटे सदैव उपस्थित रहते है । जिन्होंने वैराग्य धारण किया है उन के लिए मृत्यु भयावह नहीं रह गई है; उन का वह क्या अपहरण ही कर सकती है ? प्रत्येक व्यक्ति मृत्यु की ओर प्रयाण कर रहा है, 'क़ाफ़िला' लम्बा और न समाप्त होने वाला है, लेकिन किसी को यह ज्ञात नहीं कि यात्रा के अन्त में क्या है । ईश्वर को अपने निवास मे किसी को बाहर करने की शक्ति नहीं है, क्योंकि ऐसा स्थल कहाँ है जहाँ उस का निवास नही ? न जाने कितने बुद्धिमान लोग ईश्वर की खोज मे बरसों बिता देते हैं; लेकिन क्या कोई जगह है जहाँ वह नही ? मनुष्य संयोग और वियोग की चर्चा करता है; अभिलाषित उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए लम्बी यात्राएँ करता है; दिन-रात कठिन परिश्रम करता हुआ थका-माँदा, पैरों मे अशक्त हो कर उदास होता है । लेकिन उस की यात्रा का अन्त बराबर उस की आत्मा के भीतर है । हम इस जीवन को इतना महत्त्व देते हैं, लेकिन ज्यों-ज्यों यह क्षीण होता है, हमे ज्ञात होता है कि यह स्वप्न से बढ कर कुछ नहीं है, एक छूछी कहानी मात्र है ।

यह सब बातें बहुत सादी और प्रारम्भिक जान पड़ती है । पांडित्य-प्रदर्शन का यहाँ कोई प्रयास नही । धार्मिक पुस्तकों मे कोई उद्धरण नहीं दिए गए हैं । लेकिन निश्चय ही यहाँ समस्त धर्मों का सार

है—यदि धर्म ऐसी नैतिकता का नाम है जिस में भावुकता का पुट हो।

(१) बसते हैं सब तेरे ही साए में शेख़ो बरहमन,
आबाद है तुझ से ही तो घर दैरो-हरम का।

(२) वाय नादानी कि वक़्ते मर्ग साबित हुआ।
ख़्वाब था जो कुछ कि देखा, जो सुना अफ़साना था॥

(३) जग में आकर इधर उधर देखा।
तू ही आया नज़र जिधर देखा॥

(४) जग में कोई न टुक हँसा होगा।
कि न हँसे में रो दिया होगा॥

(५) दुनिया में कौन कौन न एक बार हो गया।
पर मुँह फिर इस तरफ़ न किया उस ने जो गया॥

(६) न समझा, 'दर्द', हम ने भेद याँ ही शादियो ग़म का।
सहर ख़ंदा है क्यों रोती है किस को याद कर शबनम॥

(७) बला है नश्शए दुनिया, कि ता क़यामत आह।
सब अहले क़ब्र इसी का ख़ुमार रखते हैं॥

(८) गुल अब तो मिले हैं हँस के, लेकिन,
बुलबुल यह चुभेंगे ख़ार दिल में॥

(९) बाग़े जहाँ के गुल हैं या ख़ार हैं तो हम हैं।
गर यार हैं तो हम हैं, अग़यार हैं तो हम हैं॥

(१०) मौत! क्या आके फ़क़ीरों से तुझे लेना है?
मरने से आगे ही यह लोग तो मर जाते हैं।

(११) न पूछो कुछ हमारे हिज्र की और वस्ल की बातें।
चले थे ढूँढ़ने जिस को सो वोही आप हो बैठे॥

(१२) इस ज़ीस्त का एतबार क्या है?
कोई दम में यह ज़िन्दग़ी हवा है।

कुछ शेरों में बहुत थोड़े शब्दों में विनोदपूर्ण ढंग से गहन सत्य का उद्‌गार है। कुछ में शाब्दिक चातुर्य का प्रदर्शन मात्र है :—

(१) बेतरह कुछ उलझ गया था दिल,
बेवफ़ाई ने तेरी सुझाया ॥

(२) दुश्मनी में सुना न होवेगा।
जो हमें दोस्ती ने दिखलाया ॥

(३) तर दामनी पै शेख़ हमारी न जाइयो।
दामन निचोड़ दूँ तो फ़रिश्ते वज़ू करें ॥

(४) काम मर्दों के जो हैं सो वही कर जाते हैं।
जान से अपनी जो कोई कि गुज़र जाते हैं ॥

(५) बाद मरने के मेरे होएगी मेरे रोने की क़द्र।
तब कहा कीजेगा लोगों से, "वह बरसातें कहाँ?"

(६) कोई समझे क्योंकि इस मुद्दआ की पहेली का सा है यह माजरा।
कहा मैं 'तुझे नहीं चाह क्या?' लगा कहने मुझ से कि 'हाँ, नहीं।'

(७) सूरतों में ख़ूब होंगी, शेख़, गो हूरे बहिश्त।
पर कहाँ यह शोखियाँ, यह तौर, यह महबूबियाँ!

(८) क़ासिद से कहो फिर ख़बर उधर ही को ले जाय।
याँ बेख़बरी आ गई जब तक ख़बर आवे ॥

(९) क़ासिद नहीं यह काम तेरा, राह ले।
इस का पयाम दिल के सिवा कौन ला सके?

अन्त में हम कुछ ऐसे शेर देते हैं जिन से कवि के उपनाम या तख़ल्लुस 'दर्द' की सार्थकता दिखाई देती है। कवि की उदासी में कोई बनावटीपन नहीं—वह उस के स्वभाव का अङ्ग तथा सच्चा प्रदर्शन है; मानों इस बात का उद्‌गार है कि अन्त में वेदना निश्चित है।

(१) यारब, यह दिल है या कोई मेहमाँसराय है?
ग़म रह गया कभू, कभू आराम रह गया।

(२) अगर यों ही यह दिल सताता रहेगा,
तो इक दिन मेरा जी ही जाता रहेगा।

(३) मै जाता हूँ दिल को तेरे पास छोड़े।
मेरी याद तुझ को दिलाता रहेगा।

(४) क़फ़स में कोई तुम से है हम सफ़ीर,
ख़बर गुल की हम को सुनाता रहेगा।

(५) हाल मुझ ग़मज़दा का जिस तिस ने।
जब सुना होगा रो दिया होगा।

(६) मेरे नालों पै कोई दुनिया में,
बिन किए आह कम रहा होगा।

(७) तुम ने तो एक दिन भी न इधर गुज़र किया।
हम ने ही इस जहान से आख़िर सफ़र किया॥

(८) हँस क़ब्र पै मेरी खिलखिला कर।
यह फूल चढ़ा कभी तो आकर॥

(९) सैयाद अब रिहाई से क्या मुझ असीर को?
फिर किस को ज़िन्दगी की तवक़्क़ोबहार तक?

कवि की रचनाओं को समग्र रूप से देखते हुए हृदय पर ऐसा प्रभाव पड़ता है कि यह एक ऐसे व्यक्ति की कृति है जिस की आत्मा ने समत्व का अनुभव किया था, जो जीवन की निराशाओं और वेदनाओं को देखते हुए भी वर्तमान से परे एक जीवन में विश्वास रखता था, और जिसे ऐसे जीवन की कल्पना से सांत्वना मिलती थी। वह एक श्रेष्ठतर जीवन की आकांक्षा रखता था और इस प्रकार की आशा को स्वप्नमात्र नहीं समझता था।[१]

---

[१] "हिन्दुस्तानी" (इलाहाबाद) के अक्टूबर-दिसंबर, १९४४, अंक में प्रकाशित अग्र-लेख।

मीर की कविता में हिन्दी का स्थान

उर्दू भाषा का जन्म भारतवर्ष में हुआ और आरम्भ के उर्दू लेखकों ने भारतवर्ष के अनेक प्रचलित शब्दों का प्रयोग किया। उर्दू कविता में इस देश के छन्द बहुधा पाये जाते है। परन्तु काल क्रम से उर्दू बोलने और लिखने वालों की मनोवृत्ति बदल गई और उन की यह चेष्टा होने लगी कि उर्दू भाषा फ़ारसी का एक अङ्ग बने और उर्दू साहित्य फ़ारसी साहित्य का प्रतिबिम्ब।

इस भावना का फल यह हुआ कि उर्दू साहित्य का समस्त वातावरण विदेशीय हो गया। इस से क्षति उर्दू की हुई, क्योकि इस साहित्य का अपनी जन्म-भूमि से कोई सम्पर्क नही रहा। प्रारम्भ के कवियों और लेखकों में ऐसी संकीर्णता नही पाई जाती है। इस प्रकार से तुलसी और बिहारी के काव्य में भी फ़ारसी शब्द मिलते है।

परन्तु, उर्दू के कर्णधारों का तो यह प्रयास होने लगा कि हिन्दी शब्दों का यथासाध्य बहिष्कार हो। मीर तक़ी "मीर" उर्दू के बहुत प्रसिद्ध कवि थे। उन की अब भी बड़ी प्रतिष्ठा है और महाकवियों में उन की गणना होती है। "ज़ौक़" ने लिखा है :

"न हुआ, पर न हुआ,
"मीर" का अन्दाज नसीब,
"जौक़"! यारों ने बहुत
ज़ोर ग़ज़ल में मारा।।"

और "ग़ालिब" ने कहा :

"रेख़्ते के तुम्ही उस्ताद
नही हो "ग़ालिब"

कहते हैं अगले जमाने में
कोई मीर भी था ।।"

अकबर इलाहाबादी का शेर है :

"मै हूँ क्या चीज़ जो उस तर्ज़
पै जाऊँ, "अकबर",
"नासिख़" व "जौक़" भी जब
चल न सके मीर के साथ ।"

× × ×

मीर सम्भवत: १७१८ ई० में जनमे और १८०८ ई० में मरे। आगरा, दिल्ली और लखनऊ में रहे। उन दिनों उर्दू-भाषा बनाई जा रही थी। फ़ारसी और तुर्की बोलने वाले ऐसी भाषा गढ़ रहे थे, जिस के दरबार के साथ और लश्कर के साथ रहने वाले समझ सकें। यह तो अनिवार्य था कि वे अपनी सस्कृति से प्रभावित हों। जिन कहानियों और ऐतिहासिक घटनाओं से वे परिचित थे, जिन उपमाओं और कल्पनाओं को वे अपनी मातृभाषा के साहित्य में पाते थे, उन का उपयोग करना उन के लिए स्वाभाविक था।

गुल और बुलबुल, सैयाद और क़फ़स, साक़ी और मयख़ाना, बहार, कारवाँ और मंजिल, बाग़बाँ और आशियाँ, दैर और हरम, बुत और ख़ुदा, वाअज़ और नासेह का उर्दू में समावेश होना आश्चर्यजनक नहीं है।

विदेशी वातावरण

आश्चर्यजनक तो यह है कि जब इस देश के निवासी, जिन का ईरान और अरब की संस्कृति से कोई सम्बन्ध नहीं था, जो इस देश में और भारतीय संस्कृति में पले। उर्दू लिखते समय शीरी और फ़रहाद, यूसुफ़ और जुलेखा, लैला और मजनूँ से इतने प्रभावित हो जाते थे कि

नल और दमयन्ती, सावित्री और सत्यवान के नाम भूल कर भी न लेते थे। विदेशीय वातावरण में ईश्वर के स्थान में ख़ुदा ही उन को भला लगता था। और कोयल और पपीहा को भूल कर बुलबुल का ही ध्यान रहता था; जुही, चमेली और कमल छोड़ कर गुल ही उन को भाता था। अस्तु !

"मीर" के समय में इतनी संकुचित भावना लिखने वालों में नही थी और उन की कविता में बहुत से हिन्दी शब्द व्यवहार में लाए गए हैं। अचपल, बासन, बाला, बाण, भस्म, परीखा, चित्त चढ़ना, धीर बाँधना, रोम-रोम, सुमिरन, सूद काल, कपि, गुण, निबल, हुंकार, सुमत, संसार इत्यादि शब्द उन के "दीवान" में पाये जाते हैं।

नीचे पचास ऐसे उदाहरण हैं जिन में हिन्दी शब्दों के प्रयोग से कविता और अधिक आकर्षक हो गई है। कितने दुख की बात है कि पिछले १५० वर्ष से उर्दू की धारा हिन्दी से इतनी दूर और भिन्न हो गई है :

(१) नाउमेदी भी हद रखती है,
जीता कब तक रहेगा कोई उदास।
(२) चलता-फिरता है पर उदास-उदास।
(३) नहीं रहता चिराग़ ऐसी पवन में।
(४) नहीं विश्वास जी गँवाने का।
(५) जैसे किसू का कोई नगर हो लुटा हुआ।
(६) इस ग़म ने "मीर" तुम को जी से निदान मारा।
(७) बारे अपना पाँव इस राह में बिचल कर रह गया।
(८) मुखड़े से किस के तुने ऐ "मीर" दिल लगाया।
(९) जो काम "मीर"जी ने किया सो कुढ़ब किया।
(१०) सदा मैं तो रहता हूँ बीमार सा।
(११) यह नगर काहे को इस तरह से वीराँ होता।

(१२) कुछ भी जो सुन पावें ये, तो मजलिस में विस्तार करे।
(१३) खुदा जाने मिलाप इस से कहाँ हो।
(१४) न दिल से जा, खुदा की तुझ को सौगन्द।
(१५) जाने के ही है सब लच्छन सारे इस आस्माँ के।
(१६) चितवन के कब ढब थे ऐसे।
(१७) एक समय तुम हम।
(१८) यहाँ साँझ के तई भी सहर का समाँ सा है।
(१९) सुध अपनी नही हम को, कुछ तुम को ख़बर भी है।
(२०) क्या ज़ुल्म किया बेजा, मारा जीवन से उनने।
कुछ ठौर भी थी इस की, कुछ इस का ठिकाना था।
(२१) दू किस को दोष ? दुश्मने-जानीं थी दोस्ती।
(२२) अजब नहीं है न जाने जो "मीर" चाह की रीत,
सुना नही है मगर यह कि "जोगी किस के मीत"
(२३) इस से कोई नहीं निरास कही।
(२४) सन्मुख हो के मैदान में।
(२५) दिन आज का भी साँझ हुआ इंतज़ार में।
(२६) इस समय में देखने हम को बहुत आया करो।
(२७) रहता है पेश दीदयेतर आह का स्वभाव।
(२८) क्या धीर बँधे उस की जो इश्क़ का रुसवा हो ?
(२९) "मीर" क्यों रहते हैं अकसर अनमने ?
(३०) सुध अपनी बिसर जाये।
(३१) विश्वास न करता था मर जाने से हिज्राँ में।
(३२) तुम किस समय की कहते हो ? यह है कहाँ की बात ?
(३३) राह तकते-तकते अपनी आँखें भी पथरा चलीं।
(३४) आलिम इल्म में एक थे हम बले, हैफ़ है उनको ज्ञात नही।
(३५) जैसे मदमाते हो।

(३६) अचरज है इस नगर से जाता नहीं यहाँ कुछ।
(३७) मूँद कर आँखें "मीर" अगर तू दिल की तरफ़ टुक ध्यान करे।
(३८) तिनके से हम पर्वत हुए।
(३९) "मीर" सितमकुश्ता की समाजत है मशहूर ज़माने की।
(४०) रात हुई जिस जगह हम को हम ने वहीं विसराम किया।
(४१) चारो ओर नहीं है कोई, याँ-वाँ यों ही ध्यान गया।
(४२) दिल गया मुफ़्त, और दुख पाया।
(४३) अछर है तो इश्क़ के दो ही, लेकिन है विस्तार बहुत।
(४४) ऐ बूएगुल समझ के महकियो पवन के बीच।
(४५) मज़ा रस में है, लोगे क्या तुम कुरस में।
(४६) बसन्ती क़बा पर तेरे मर गया है।
कफ़न "मीर" को दीजिए ज़ाफ़रानी।
(४७) इक बात उस से हो गई दो दो वचन के साथ।
(४८) बेदसा क्यों न सूख जाऊँ मैं।
(४९) मुद्दत में हो मिलाप तो पहचान क्या रहे ?
(५०) राह की बात खोए देती है।[1]

[1] सरिता (नई दिल्ली) में प्रकाशित (१९४६)।

हसरत मोहानी

हसरत मोहानी के विषय में यह कहना यथार्थ होगा कि उन की जो योग्यता हम राजनीति में देखते हैं उस का वास्तविक क्षेत्र साहित्य है। उन की व्यापक सहानुभूति, चमत्कारिक बुद्धि, सौंदर्य के प्रति चेतना, साहित्य के उत्कृष्ट अङ्गों से परिचय, कोमल भावुकता —यह सब गुण हैं, जिन्होंने उन्हें समसामयिकों की श्रेणी में उच्चतम आसन का अधिकारी बनाया था। उर्दू कविता के गहन ज्ञान और रूढ़ियों के प्रभाव से मुक्त होने के कारण यह बात आरम्भ में ही स्पष्ट हो गई थी कि वह साहित्य में प्रकाशमान होंगे और विशेष कर ग़ज़ल के प्रान्त में विशिष्टता प्राप्त करेंगे। अपने प्रारम्भिक वर्षों में उन्होंने जो कार्य किया वह बड़े महत्व का था। उन्होंने पुराने लेखकों की रचनाओं का सम्पादन किया और इस प्रकार उन की कृतियों को लोप होने से बचाया। 'उर्दू-ए-मोअल्ला' की कई जिल्दें, ग़ालिब के दीवान का टिप्पणी-सहित संस्करण, हातिम, ज़ौक़, मोमिन, मीर, दर्द, मसहफ़ी और अन्य कवियों की रचनाओं से संग्रह द्वारा हसरत मोहानी ने यह प्रकट कर दिया था कि उर्दू का उन का ज्ञान बहुत विस्तृत है, और साहित्य में उन की रुचि अत्यन्त परिमार्जित है। इन प्रकाशनों द्वारा हसरत की विद्वत्ता प्रतिष्ठित हो चुकी है और यह भी स्थापित हो चुका है कि साहित्य-सम्बन्धी बातों में उन के मत का बहुत मूल्य है। सुरुचि, भावुकता, कल्पना, विचार-शक्ति और नई युक्तियों के लिए साहस—इन गुणों ने हसरत को प्रथम श्रेणी का कवि बनाया। उन में इस बात की क्षमता थी कि बिना परम्परा से सम्बन्ध तोड़े हुए वह नए प्रयोग कर सकें।

सैयद फ़ैज़ुल हसन ने इलाहाबाद यूनिवर्सिटी की बी०ए० की परीक्षा सन् १६०३ में एम्० ए० ओ० कालिज, अलीगढ़ से पास की। जान पड़ता है कि उन्होंने ग़ज़ल-रचना सन् १८६५ से ही आरम्भ कर दी थी। और उन के दीवान का अन्तिम भाग—जहाँ तक मेरे संग्रह में है—जो दसवाँ भाग है सन् १६२४ में प्रकाशित हुआ। इन दस भागों में सब मिला कर २६० पृष्ठ के लगभग होंगे। मोलाना हसरत मोहानी की धर्मपत्नी अपनी भूमिका में लिखती हैं कि दीवान के पहले भाग में १६०३ से १६१४ के बीच में लिखी हुई ग़ज़लें हैं, और यह कि इस काल का एक हिस्सा उन के पति ने जेल में बिताया। दीवान का दूसरा भाग १६१४—१६ की रचनाओं से सम्बन्ध रखता है। इस बीच में वह अलीगढ़, ललितपूर, झाँसी और इलाहाबाद के जेलों में रहे। अन्य गज़लों का अधिकांश भी फ़ैज़ाबाद, लखनऊ, मेरठ और अहमदाबाद के जेलों में रचा गया। पाँचवें भाग की भूमिका स्वयं कवि ने यरवदा जेल में १६२३ में लिखी, और उन का कहना है कि कुछ कविताएँ जो उन्होंने केन्द्रीय ख़िलाफ़त कमेटी के नेताओं के पास भेजी थीं वह गुम भी हो गईं। छठे भाग की भूमिका में हमें कुछ मूल्यवान् सामग्री कवि के जीवन-चरित्र के सम्बन्ध में मिलती है। उसी से हमें पता चलता है कि हसरत का कवि-जीवन १८६५ से आरम्भ होता है, और यह कि उन की प्रारम्भिक रचनाओं में से कई संग्रहों में प्रकाशित हुई हैं। सन् १८६८ और १६०२ के बीच की अपनी रचनाओं के विषय में उन्हें उत्साह नहीं है और वह लिखते हैं कि इन रचनाओं को वह पुनः न प्रकाशित करेंगे। इन भूमिकाओं में हमें इस बात की सूचना मिलती है कि कवि ने ठीक-ठीक कितना समय कहाँ पर जेल में व्यतीत किया। कदाचित् जेल के जीवन ने उन्हें वह एकान्त और अवकाश दिया जिस के बिना कवि का रचनात्मक कार्य सम्भव न होता। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि इस प्रकार के जीवन के परिणाम-स्वरूप ही उन की अनेक कविताओं में राजनीतिक रङ्ग आ गया है।

हसरत मोहानी जैसे नए प्रयोगों के लिए साहस रखने वाले कवि ने भी पद्य के शास्त्रीय नियमों का कितनी सूक्ष्मता से पालन किया है, यह बात ध्यान देने योग्य है। वह परम्परा द्वारा नियत कला-सम्बन्धी बन्धनों के मूल्य को स्वीकार करते हैं। किसी-किसी भूमिका में तो उन्होंने प्रकट सन्तोष के साथ बताया है दीवान में वर्णमाला के प्रत्येक अक्षर 'रदीफ़' (अंत्यक्षर) के रूप में आ गए हैं और ظ ‘خ ‘ک ‘ف ‘ط ‘ض ‘ص ‘ث जैसे कठिन रदीफ़ में अच्छी ग़ज़लें बन पड़ी हैं। केवल एक कुशल शिल्पी, जिसे अपने उपकरणों के व्यवहार में उचित गर्व है, इस प्रकार की विज्ञप्ति कर सकता है। कवि के शिल्प-ज्ञान के विषय में एक और बात भी ध्यान देने योग्य है। बेन जान्सन का स्पेंसर के विरुद्ध यह उलाहना था कि प्राचीनों के अनुकरण करने में जिस भाषा का उस ने प्रयोग किया वह कोई भाषा न रह गई थी। कवित्व के ह्रास का एक अचूक चिह्न शब्दों पर अत्यधिक ध्यान दिया जाना तथा काव्य भाषा की एक रूढ़ि का स्थापित हो जाना है। ऐसी भाषा शीघ्र ही यन्त्रवत् और निर्जीव हो जाती है। वर्ड्सवर्थ ने अपने समय में जो प्रतिवाद किया उस की बड़ी आवश्यकता थी। कोलरिज ने भी उन पुराने शब्दों के व्यवहार को चलाया जिसे रूढ़ि तिरस्कृत कर चुकी थी। बहुधा पुनरुद्धार की क्रान्ति होती है। स्वतन्त्रता की जो ज्वलन्त भावना हसरत की रचनाओं को आधुनिक उर्दू साहित्य में विशेषता प्रदान करती है वही शब्दों के चुनाव के विषय में बन्धनों के प्रति उपेक्षा का रूप ग्रहण कर लेती है। एक प्रसिद्ध उर्दू कवि ने जो कुछ वर्ष हुए दिवंगत हुए हैं, अपने दीवान में हिन्दी शब्द 'लाज' के व्यवहार पर क्षमा-याचना करना उचित समझा था। इस प्रकार की मनोवृत्ति हसरत को कदापि रुचिकर नहीं हो सकती। फलतः हम देखते हैं कि उन्होंने ऐसे अनेक शब्दों का व्यवहार किया है जो कि आज कल के उर्दू कवि साधारणतः प्रयोग में नहीं लाते। मैं ठुमरी जैसी हिन्दी शब्दावली वाली कविताओं की ओर संकेत नहीं कर रहा

हूँ, जिन में कि कवि ने श्रीकृष्ण और उन के चरित्र की चर्चा की है; यही प्रवृत्ति उन की ग़ज़लों तक में दिखाई पड़ती है। 'न दीजियो'; 'पुजारी'; 'पगड़ी'; 'जाइयो' आदि शब्द, जो उर्दू कविता की पुरानी शैली के स्मारक हैं हसरत की रचना में बहुतायत से मिलते हैं।

इस प्रसङ्ग में यह कहना अनुचित न होगा कि नज़ीर अकबराबादी के बाद कदाचित् ही कोई उर्दू कवि ऐसा हुआ हो जिस ने अपनी कविता में श्रीकृष्ण की इतनी चर्चा की है। ईश्वरीय अवतार के रूप में अथवा बंशी बजाने वाले के रूप में, जिस के स्वर को सुन कर समस्त सृष्टि आनन्दित हो नर्तन करती है, अथवा आदर्श प्रेमी के रूप में जो कि अपनी लीलाओं के साथ-साथ राजनीति की गहन समस्याओं को भी सुलझाता है श्रीकृष्ण का व्यक्तित्व एक परम अद्भुत व्यक्तित्व है और यह किंचित आश्चर्य की बात है कि और अधिक उर्दू कवियों ने इस चरित्र की निधि से लाभ नहीं उठाया। अपने दीवान के सातवें-आठवें भागों की भूमिका में कवि ने और 'बुजुर्गों' के साथ जिन्होंने उन के जीवन को प्रभावित किया है श्रीकृष्ण का नाम भी लिया है। वह श्रीकृष्ण के प्रति अपनी विशेष श्रद्धा प्रकट करते हैं।

(१) 'हसरत' की भी क़बूल हो मथुरा में हाज़री,
सुनते हैं आशिकों पै तुम्हारा करम है ख़ास।

(२) मनमोहन शाम से नैन लाग,
निस दिन सुलग रही तन आग।

(३) तन मन धन सब वार के 'हसरत',
मथुरा नगर चल धूनी रमाई।

पस्ता क़द, झबरे बाल, पहनावे की तरफ़ से लापरवाही, तेज़ चाल—देखने में तो 'हसरत' अपने कवि होने का प्रभाव नहीं डालते। उन के चारों ओर 'तेज-मण्डल' नहीं है। उन के पीछे अनुयायियों का ऐसा

समूह नही जो उन की प्रशंसा पर तुला हुआ हो। उन की कविताओं को ऐसे कृत्रिम सहारे की आवश्यकता नहीं जैसे अच्छा टाइप, बढ़िया काग़ज़, आकर्षक बेठन: वास्तव में वह ऐसे भद्दे ढङ्ग से घटिया कागज पर छपी हुई है कि उन के प्रकाशन का एकमात्र तात्पर्य ग्राहकों को विमुख करना जान पड़ता है। परन्तु एक बार इस भद्दे वहिरङ्ग पर विजय प्राप्त कर लेने पर, पाठक के सामने कैसी सुन्दर सम्पन्न दुनिया खुल जाती है! ईश्वर की कृपा से यहाँ बाहुल्य है: बहुत कुछ चिन्तन है, प्रेम के अनेक वचन है; जीवन के लिए उमङ्ग है, और किञ्चित ऐसा अवसाद भी है जो हमारे विश्वास पर आघात नही करता। इन में कोई रोग या दूषण नही है, दया के लिए दीन प्रार्थना नही है वरन् है एक सबल आशा, हलका कौतुक, और तर्कसिद्ध विश्वास और महदाकांक्षा।

कवि और कविता के सम्बन्ध में हमें हसरत के विचार उन की रचनाओं में बिखरे हुए मिलेंगे। उन्होंने मीर और मोमिन को बारम्बार सराहा है:—

(१) 'हसरत', यह वह गज़ल है जिसे सुन के सब कहें;
मौमिन से अपने रङ्ग को तुमने मिला दिया।

(२) शेर मेरे भी हैं पुरदर्द लेकिन 'हसरत';
मीर का शेवए गुफ़्तार कहाँ से लाऊँ।

(३) गुज़रे बहुत उस्ताद मगर रङ्गे असर में;
बेमिस्ल है 'हसरत' सुख़न ने मीर अभी तक।

कविता के विषय पर अनेक उक्तियाँ हैं, और दिल्ली तथा लखनऊ के कवियों के आपस के झगड़े के विषय पर भी। कविता के सहज, सीधे प्रभाव के सम्बन्ध में हसरत कहते हैं:—

शेर दर अस्ल हैं वही 'हसरत';
सुनते ही दिल में जो उतर जाएँ।

ग़ज़ल के प्रति अपने अनुराग को लक्षित करते हुए वह कहते हैं :—

इश्के 'हसरत' को है ग़ज़ल के सिवा;
न क़सीदा न मसनवी की हसद।

लखनऊ-दिल्ली विवाद पर वह लिखते हैं :—

रखते हैं आशिक़ाने हुस्ने सुखन;
लखनवी से न देहलवी से ग़रज।

ग़जल के सम्बन्ध में उन की पुन: उक्ति है :—

लिखता हूँ मर्सिया न क़सीदा न मसनवी;
'हसरत', ग़ज़ल है सिर्फ़ मेरी जाने आशिक़ाँ।

नीचे की पंक्तियों में व्यंजित गर्व क्षम्य है :—

'हसरत', उर्दू में है ग़ज़ल तेरी;
परतवे नक़्शए सादी ओ जामी।

ग़ज़ल के क्षेत्र में हसरत की वास्तविक विशेषता क्या है ? उन की मौलिकता किस बात में है ? वह शराब और साक़ी, वायज़, शमा व परवाना, बहार व दाम शिकारी, के उपयोगी रूपक का परित्याग नहीं करते। परन्तु यह निश्चय है कि वह अपने निजी, व्यक्तिगत दृष्टिविन्दु को प्रकट करते हैं। इस बात को देख मुझे अत्यन्त सन्तोष होता है कि उन में एक स्फूर्ति है, मनुष्योचित दृष्टिकोण है, विजय पाने का निश्चय है। साधारण ग़ज़ल-गो की रीति कोमल अवसाद वर्णन करने की, बीते हुए दिनों पर आँसू बहाने की, व्यर्थ प्रयत्न और अन्त में विफलता प्रदर्शित करने की होती है। इन सब बातों से हसरत बहुत दूर हैं। परन्तु उन के बल में एक सौन्दर्य, मिठास और प्रकाश है। यही है कि वह शहद और शक्कर का ऐसा ढेर नहीं लगा देते कि जी ऊब जाय। क्या पवित्र ग्रन्थ यह नहीं बताते कि जो कड़ुआ चाखने के लिए तैयार नहीं वह मीठा चाखने का अधिकारी नहीं ?

× × ×

आइए हम उन पंक्तियों को देखें जहाँ कि मुख्य विषय दुःख और वेदना का है :—

(१) सब ने छोड़ा तुझे, मगर 'हसरत';
दर्द की ग़मगुसारियाँ न गईं।
(२) वह तुम हो या तुम्हारा दर्द हो, कोई हो दुनिया में;
किया जिस से तअल्लुक़ हम ने पैदा, उम्र भर रक्खा।
(३) उन से कुछ तो मिला, वह ग़म ही सही;
आबरू कुछ तो रह गई दिल की।
(४) हर हाल में रहा जो तेरा आसरा मुझे;
मायूस कर सका नहुजूमे बला मुझे।
(५) क्यों इतनी जल्द हो गए घबरा के हाँ फ़ना ?
ऐ दर्दे-यार, कुछ तेरी ख़िदमत न हो सकी।
(६) आई बुझने को अपनी शम्मए हयात;
शबे ग़म की मगर सहर न हुई।

इन पंक्तियों से यह ज्ञात होगा कि—यद्यपि दुःख और वेदना का निवेदन रूढ़ियों में बँधा नहीं है, साथ ही उस की उदासी में भी एक मृदुता है। परन्तु वेदना की देवी बना कर वह उस की पूजा नहीं करते। आकांक्षा और इच्छा का प्रत्यावर्तन होता है—स्वप्नों का और उमङ्गों का—'पुरानी ओस अब भी पुराने मीठे पुष्पों को भरती है; पुराने ग्रीष्म अब भी नए उपजे गुलाबों को पालते हैं।' और इन के परे ईश्वर की अतुल दया, शान और अच्छाई है :—

(१) पहले इक ज़र्रए-जलील था मैं,
तेरी निस्बत से आफ़ताब हुआ।
(२) हवा से दीद मिटी है न मिटेगी, 'हसरत'।
देखने के लिए चाहो उन्हें जितना देखो।

परन्तु पेशावर शान्ति दिलाने वाले और नीति की शिक्षा देने वाले द्वारा वह अपने अन्तिम ध्येय को प्राप्त करेंगे। वायज़ तो बुराई और पाप और दुष्कर्म की चिन्ताओं में फँसा रहता है। वह जो बुराई और पाप के सन्सर्ग में इतना रहता है इन से कैसे बच सकता है? वह उदारता क्या जाने?

अजब क्या, जो है बदगुमाँ सब से वायज़;
बुरा सुनते सुनते, बुरा कहते कहते।

× × ×

जब 'हसरत' उर्दू कविता के साधारण रूपक ग्रहण करते हैं तब भी उन में मौलिकता रहती है और पुरानी कल्पनाएँ एक नवीनता धारण कर लेती हैं:—

मैं गिरफ़्तार उल्फ़ते सैयाद;
दाम से छुट के भी रिहा न हुआ।

शमा पर एक शेर देखिए:—

आई जो तेरे रूए मुनव्वर के क़रीं शम्अ;
हम लोग यही समझे कि महफ़िल में नहीं शम्अ।

बहार और तज्जनित प्रेम के सम्बन्ध में और उस की मादकता और उल्लास के विषय में भी हसरत खूब ही लिखते हैं:—

(१) सब्र मुश्किल है ज़ब्त है दुश्वार;
दिल वहशी है और जुनूने बहार।

(२) हाय जुनूने शौक़ अभी से बक़रार अब की बरस;
क्या ग़ज़ब ढाएगा तूफ़ान बहार अब की बरस।

(३) हंगामए बहार का देखा कभी न रङ्ग;
हम ने की मुब्तिलए बालए खिजां रहे।

(४) कुछ दिल ही बुझ गया है मेरा वर्ना आज कल;
कैफ़ीयते बहार की शिद्दत चमन में थी।

(५) सब हँस पड़े खिलखिला के गुंचे;
छेड़ा जो लतीफ़ा सबा ने।

(६) फला फूला रहे गुल्जार यारब हुस्ने ख़ूबाँ का;
मुझे इस बाग़ के हर फूल से खुशबूए यार आई।

हाथों में साक़ी का आनन्द-दायक और मादक जाम लिए रहना, मगर उसे देने में पसोपेश करना, झुंड के झुड लोगों का घुटना टेके हुए उस की कृपा के लिए प्रार्थी होना और उस से प्रेम जताना तथा उस की प्रशंसा करना; साक़ी का बड़ी कठिनाई से चन्द क़तरे जाम का देना; वायज का दूर से उस पर निगाह रखना और तंबीह के शब्द उच्चारण करना और उपदेश देना और ख़ुदा के कहर का डर दिलाना—यह चित्र सभी उर्दू कविता के पढ़ने वालों के लिए परिचित होंगे परन्तु इन पिटे हुए विषयों पर भी हसरत ने बहुत सुन्दर पंक्तियाँ लिखी है :—

(१) जब दिया तुम ने रक़ीबों को दिया जामे शराब;
भूल कर भी मेरी जानिब को इशारा न किया।

(२) ख़ुम लगा दे हम बलानोशों के मुँह से साक़िया;
काम आएगा न साग़र आज न पैमाना आज।

(३) यारब हमारे बाद भी बज़्मे शराब में;
साक़ी के दम से दौरे-मए-अर्ग़वाँ रहे।

(४) बज़्म साक़ी में चलें भी तो कहीं हज़रते शैख़;
शर्त हम करते हैं रह जाय जो ईमां का होश।

(५) बड़े अज़ाब में है जाने मैकशे साक़ी;
नहीं शराब तो फ़िक्रे शराब रहने दे।

(६) मर जाऊँगा मैख़ानें से निकला जो कभी मैं;
नज्ज़ारए मै रूह फ़िज़ा मेरे लिए है।

(७) नहीं पानी, तो मैख़ाने में ऐ शैख़;
जो कुछ मौजूद है लाऊँ वज़ू को।

(८) साक़ी न पूछ कितनी, जहाँ तक पिऊँ पिला;
आदत नहीं है मुझ को सवालो जवाब की।

(९) आज तो मुँह लबे साग़र से भिड़ा दे मेरा;
साक़िया, तुझ को मेरी सुस्तिए पैमाँ की क़सम।

(१०) मश्विरे दे जो तर्के मै के हमें;
ऐसे ग़मख़्वार से ख़ुदा की पनाह।

× × ×

उन कविताओं के विषय में भी जिन का लक्ष्य स्पष्टतः राजनीतिक है दो शब्द कहने की आवश्यकता है। हसरत की योग्यता की सराहना करनी चाहिए कि उन्होंने प्रेम-काव्य के रूपकों को और शब्दावली को क़ायम रखते हुए भी अपने शेरों में राजनैतिक सङ्केत भरे हैं। बन्दीगृह के दीर्घ-कालीन निवास ने भी उन के मनुष्य की भलाई के प्रति विश्वास में धक्का नहीं पहुँचाया है। वह होरेस की कसौटी पर सच्चे उतरते हैं। और प्रकाश से धुआँ न उत्पन्न कर के धुएँ से प्रकाश उत्पन्न करते है :—

(१) रस्मे जफ़ा कामयाब देखिए कब तक रहे;
हुब्बे वतन मस्ते ख़्वाब देखिए कब तक रहे।
नाम से क़ानून के होते है क्या क्या सितम;
जब्र व-ज़ेरे नक़ाब देखिए कब तक रहे।
दौलते हिन्दोस्तां क़ब्ज़ए अग़यार में;
बईदो बेहिसाब, देखिए कब तक रहे।
है तो कुछ उखड़ा हुआ बज़्मे हरीफाँ का रङ्ग;
अब यह शराबो-कबाब देखिए कब तक रहे।

(२) मैं मुब्तिलए रंजे-वतन हूँ वतन से दूर;
बुलबुल के दिल में यादे चमन है चमन से दूर।

(३) सब हमारी ज़िन्दगी ही तक हैं उन के हौसले;
वर्ना यह नाज़ो-ग़रूरे दिलरुबाई फिर कहाँ।

(४) उस बुत के पुजारी है मुसल्मान हजारों;
बिगड़े है इसी कुफ्र में ईमान हजारों।

× × ×

इस के अनन्तर आइए हम देखें कि हसरत ग़ज़ल के मुख्य विषय अर्थात् प्रेम का कैसा चित्रण करते हैं। उन के तग़ज़्ज़ुल का क्या रङ्ग है। सभी भाषाओं में प्रेम गीतिकाव्य का मुख्य विषय रहा है। उर्दू प्रेम-काव्य के रचयिताओं में ग़ालिब और मीर के स्वर मुख्य है। यों तो दिल्ली और लखनऊ के अनेक अपेक्षाकृत छोटे कवियों ने इस में साथ दिया है। हसरत मोहानी इस परम्परा के साथ यहाँ तक है कि वह माशूक को अस्थिर और कठिनाई से प्रसन्न होने वाला मानते हैं। परन्तु उन में एक विनोद और चतुराई की मात्रा है जो कि उन की कविता को नवीनता प्रदान करती है। वह साधारणत: माशूक़ की क्रूरताओं को तद्वत् नही मान सकते। वह भी एक भाव प्रदर्शन है और वास्तविक प्रेम का सूचक है। यहाँ या अन्यत्र, जल्दी अथवा देर में मिलन हो कर ही रहेगा। इस बीच में यदि माशूक कठोरता दिखाता है, तङ्ग करता है, छेड़ता है, दिल दुखाता है तो इस की कोई चिन्ता नहीं। सच्चे प्रेम का मार्ग कब सीधा, कण्टक-रहित रहा है। प्रेम के साथ वेदना लगी हुई है। कवि यह सब जानता है फिर भी उसे प्रेम की शक्ति में विश्वास है। इसी लिए हसरत की कविता में हमें विनोद और गम्भीरता का ऐसा विचित्र संमिश्रण मिलता है। गहन से गहन परिस्थिति में हम उन में कौतुक की मनोवृत्ति देखते है :—

(१) मानूस हो चला था तसल्ली से हाले दिल;
फिर तू ने याद आ के बदस्तूर कर दिया।

(२) गर जोशे आरज़ू की हैं कैफ़ीयतें यही;
मैं भूल जाऊँगा कि मेरा मुद्दआ है क्या।

(३) इश्क़ की रूहे पाक को, तुहफ़ए ग़म से शाद कर;
अपनी जफ़ा को याद कर, मेरी वफ़ा को याद कर।

(४) हकीक़त खुल गई 'हसरत' तेरे तर्के मुहब्बत की;
तुझे तो अब वह पहले से भी बढ कर याद आते है।

(५) मज़हबे आशिक़ी में है ऐ अक़्ल;
ब-ख़ुदी इंतिहाए दानाई।

(६) बर्क़ को अब्र के दामन मे छुपा देखा है;
हम ने उस शोख़ को मजबूरे-हया देखा है।

(७) जाहिर में जफा करते बातिन में वफ़ा होती;
सौ ढब से करम होता मंज़ूर अगर होता।

(८) हैफ है उस की बादशाही पर;
तेरे कूचे का जो गदा न हुआ।

(९) इश्क़ या हुस्न कौन है ग़ालिब;
आज तक इस का फ़ैसला न हुआ।

(१०) मर मिटे हम कि दे वह दादे वफा;
और जो इस का भी कुछ असर न हुआ ?

(११) पहले इक ज़र्रए ज़लील था मै;
तेरी निस्बत से आफ़्ताब हुआ।

(१२) यह क्या मुसिफ़ी है कि महफ़िल में. तेरी;
किसी का भी हो जुर्म पाएँ सज़ा हम।

(१३) गम का न दिल में हो गुज़र, वस्ल की शब हो यों बसर
सब यह क़बूल है मगर, ख़ौफ़े सहर को क्या करूँ।

(१४) कही वह आ के मिटा दें न इंतज़ार का लुत्फ़;
कही क़बूल न हो जाय इल्तजा मेरी।

(१५) वह बिगड़े बैठे है इस पर कि हम को क्यों चाहा;
हुई भी गर तौबा साबित हुई ख़ता मेरी।

(१६) उसी से छिपते है होती है जिस पै उन की नज़र;
अगर यही है तो उम्मीदवार हम भी हैं।

(१७) दुश्मन के मिटाने से मिटा हूँ न मिटूँगा;
 और यों तो मैं फ़ानी हूँ फना है मेरे लिए।

(१८) हाल सुनते वह क्या मेरा 'हसरत';
 वह तो कहिए सुना गई आँखें ।

(१९) शिकवए और, तकाज़ए करम, अर्ज़े वफ़ा;
 तुम जो मिल जाओ कहीं हम को तो क्या क्या न करें।

(२०) ख़ाकसारों में अपने दे के जगह;
 तुम ने मग़रूर कर दिया हम को ।

(२१) रहमत ने हम से फेर लिया मुँह जो हश्र में;
 सूरत नज़र में फिर गई तेरे हिजाब की ।

(२२) सब्र मुश्किल है आरज़ू बेकार;
 क्या करें आशिकी में क्या न करें।

(२३) गोया व सब सुना ही तो देगी वहाँ का हाल ?
 क्या क्या हवाल करते हैं बादे सबा से हम ।

(२४) हरदम है यह डर फिर न बिगड़ जायें वह 'हसरत';
 पहरों जिन्हें रो रो के हँसाने में लगे हैं।

हसरत की कविताओं की अन्तिम जिल्द को प्रकाशित हुए लगभग चौदह वर्ष बीत गए। कौन इस बात पर ख़ेद किए बिना रह सकता है कि इतने वर्ष उन के परिपक्व जीवन के साहित्य-सेवा में न व्यतीत हो कर राजनीति के अखाड़े में संघर्ष में बीते हैं ? यह उत्कट इच्छा होना स्वाभाविक है कि उन के जीवन के शेष वर्ष—जो हम आशा करते हैं कि अनेक होंगे—अब भी अमर काव्य की सेवा में व्यतीत हों।

तू ने हसरत यह निकाला है अजब रङ्गे ग़ज़ल;
अब भी क्या हम तेरी यकताई का दावा न करें।[1]

---

[1] "हिन्दुस्तानी" (प्रयाग) में प्रकाशित एक लेख ।

'रियाज़' की कविता

'रियाज़' खैराबादी पुरानी शैली के उर्दू कवियों में एक प्रमुख स्थान रखते थे। 'पुरानी शैली' मैं इस लिए कह रहा हूँ कि आज के पाठकों को उन की रचनाएँ रूढ़िबद्ध, बनावटी और समय की गति से पिछड़ी हुई जान पड़ेंगी। यह खेद की बात है कि उन का 'दीवान' अब से बहुत पहले न प्रकाशित हुआ। तीस वर्ष पूर्व यह हाथों हाथ लिया गया होता। उन के अनेक प्रशंसक और शिष्य थे। यह लोग उन के वाक्यविन्यास से परिचित थे। 'रियाज़' जिन मुहावरों का उपयोग करते थे, उन्ही को ग्रहण करने के लिए यह लोग उत्सुक रहने थे। जिन विषयों को ले कर वह कविताएँ रचते, वह विषय अब भी लोगों में रससंचार कर सकते थे। जिन प्रतीकों को उन्होंने अपनाया था, वह उस समय निर्बल नही पड़े थे। वह ऐसे जीवन-तल का कोमल स्पर्श कर रहे थे, जोकि अतीत की वस्तु नही बना था। परन्तु जीवित रहना कुछ परिस्थितियों को पार कर जाना है; और जिस समय तक 'रियाज़' अपनी यात्रा के अन्त तक पहुँचे, उस समय तक लोगों के स्वप्नों के भाव बदल चुके थे, परम्परागत कल्पनाओं का त्याग किया जा रहा था, जातीयता कविता का साधारण विषय बन गई थी, और उन लोगों के विरुद्ध जो पुराने रूपों और भावों में घिरे हुए थे विरोध उत्पन्न होना आरम्भ हो गया था। यह कहा नहीं जा सकता कि उर्दू कविता का आज का पाठक 'रियाज़' का विशेष आदर भी करेगा। अनेक प्रकार से यह खेद की बात है, क्योंकि इस में सन्देह नहीं कि जिस क्षेत्र तक उन्हों ने अपने को सीमित रक्खा उस में वह उस्ताद थे। कवि अपने लिए जो नियन्त्रण लगाता है और जो आदर्श वह ग्रहण करता है, उन से समालोचकों को सन्तुष्ट होना चाहिए। जैसा भी वह है, उस से भिन्न न हो

सकने में उस का दोष नही; जो कुछ वह लिखता है, उसे लिखने के लिए वह अपनी परिस्थिति के कारण विवश है। समालोचकों को केवल इस बात का अधिकार है कि वह पूछे कि—उस की कृति में क्या स्थायी अंश है? क्या उस की कविता का सम्बोधन सनातन मनुष्य के प्रति है? कहाँ तक वह कविता मानव-प्रकृति, मनुष्य, और मनुष्य के मन से बाहर के जगत के आधारभूत, अभिन्न, और मार्मिक तत्वों का वर्णन करती है? अथवा, क्या वह केवल युग का अनोखापन लिए हुए है, साहित्यिक कौतूहल की वस्तु है, और ऐसी रचना है जिस का वास्तविक मूल्य नही, जो केवल ऐतिहासिक मनोरञ्जन की वस्तु है? प्रत्येक लेखक जिस प्रकार अपना निजत्व रखता है, उसी प्रकार, वह अपने युग द्वारा निर्मित व्यक्ति भी होता है। परन्तु प्रत्येक बड़े लेखक में इस से कुछ विशेषता होती है। वह अतीत और वर्तमान के प्रभाव से निर्मित होते हुए भविष्य का सूचक होता है। वह अपना ही नही वरन् मनुष्य-मात्र का प्रतिनिधित्व करता है। यही कसौटी है। इस पर 'रियाज़' कैसे उतरते है, यह देखना है।

× × ×

'रियाज़' सीतापुर ज़िले के ख़ैराबाद क़स्बे के रहने वाले थे; इन्हो ने, अपनी लोकयात्रा पुलिस अफ़सर के रूप में आरम्भ की। लेकिन इस नीरस वृत्ति को छोड़ने के अनन्तर वह पत्रकार के धन्धे में लगे। उन के गद्य लेखों ने दूर-दूर तक लोगों का ध्यान आकर्षित किया और वह बड़ी दिलचस्पी से पढ़े जाते थे। गद्य में उन्हों ने दो उपन्यासों की रचना की। वह अमीर मीनाई के शिष्य हो गए, जैसा वह कहते हैं :

मस्ते मीना हूँ पिया है मै ने—
जाम अमीर अहमदे मीनाई का।

'मीर' 'अमीर' मीनाई' और 'मसहफ़ी' को वह अपना उस्ताद मानते थे। उन के सम्बन्ध में कुछ हवाले इस प्रकार है :—

अब कहाँ शुस्ता ज़बाँ 'मीर' की अफ़सोस 'रियाज़',
'मीर' का रङ्गे तग़ज़्ज़ुल भी गया 'मीर' के साथ।
कुछ कुछ है 'रियाज़', 'मीर' का रङ्ग;
कुछ शान है हम में 'मसहफ़ी' की।

उठती है अब जहाँ से 'मीर' की तर्ज़,
कि 'रियाज़' अब यहाँ से उठता है।

हैदराबाद के निज़ाम, और महाराजा किशनप्रसाद ने इन की सहायता के प्रस्ताव किए, परन्तु वह महाराजा साहब महमूदाबाद के आश्रय से सन्तुष्ट रहे। महाराजा साहब के सम्बन्ध में हमें 'रियाज़' की कविता में बहुधा प्रशंसात्मक वचन मिलेंगे, और इन में 'रियाज़' ने अठारहवीं सदी के कवियों की भाँति अपने आश्रयदाता की सराहना की है :

कहने को हमारे भी हैं अशयार बहुत ख़ूब;
सच यह है कि फ़रमाते हैं सरकार बहुत ख़ूब।

ज़ौफ़े पीरी से 'रियाज़' अब नहीं उट्ठा जाता;
गाहे माहे कभी जा रहते हैं सरकार के पास॥

मेरी अफ़सूँतराज़ी की 'रियाज़' इतनी जो शोहरत है;
सबब यह है कि 'साहिर' सा मिला है क़द्रदाँ मुझ को।

'साहिर' स्वर्गीय महाराजा महमूदाबाद का तख़ल्लुस था।

× × ×

साहित्य का इतिहास बड़े मनोरञ्जक ढङ्ग से इस बात पर प्रकाश डालता है कि लोगों का विचार इस सम्बन्ध में बदलता रहा है कि क्या बातें गुप्त रखनी चाहिएँ और किन बातों को प्रकट करना उचित है। रुचियाँ बदलती रहती हैं। आज जिस युक्ति को हम कुरुचिपूर्ण और

आपत्ति-जनक समझते हैं संभवत: कल उसी की यथार्थवाद के नाम से प्रशंसा की जाय। आधुनिक कविता, उपन्यास और कला ने मिल कर अनेक पुराने बन्धनों को तोड़ दिया है, और कितने ही विषयों में हमारे मौनभाव को भङ्ग कर दिया है। परन्तु यद्यपि विक्टर ह्युगो ने कहा था कि कविता के लिए अच्छे और बुरे विषयों का भेद नहीं हो सकता फिर भी यह सत्य है कि विचारों के प्रकाशन के ढङ्ग जो एक पीढ़ी में प्रचलित होते हैं वह दूसरी पीढ़ी में बदल जाते हैं, बल्कि अप्रिय प्रतीत होने लगते हैं। यह केवल शैली या छन्दों के नियम का प्रश्न नहीं है। तीस या चालीस वर्ष पहले मुशायरों में जो शेर खुले रूप से पढ़े जा सकते थे, उन्हें सुन कर आज लोग कान बन्द कर लेंगे। 'अकबर' जैसे कवि की भी बहुत-सी पंक्तियाँ हमारे आधुनिक रुचि के लिए प्रिय न होंगी। 'रियाज़' में भी ऐसी पंक्तियाँ हैं जिन के सुरुचिपूर्ण होने में बड़ा सन्देह है। जब वह युवा थे—प्राय: ७० वर्ष पहले—उस चुने हुए दायरे में जिस में उर्दू कविता पढ़ी और सुनी जाती थी, इन का कलाम पसन्द किया जाता था। आज उस से पढ़ने वाले प्रसन्न नही हो सकते।

नासेह के सर पर एक लगाई तड़ाक से;
फिर हाथ मल रहे हैं कि अच्छी पड़ी नही।
शामे शबे विसाल मेरी बेक़रारियाँ;
उन का दबी ज़बान से कहना अभी नही।

———

हम लाख पारसा के एक पारसा सही;
मौक़े से तुम को पाएँ तो बतलाओ क्या करें?

———

जो बेहिजाब कहीं सीना ताने जाते हैं;
खुले खज़ाने वह जोबन लुटाते जाते हैं।

× × ×

'मीर' के समय से अब उर्दू कविता बहुत दूर चली गई है। 'बहरी' और 'मीर' जैसे प्रारम्भिक कवियों, की भाषा में हिन्दी शब्दों की बड़ी मिलावट थी। बाद के कवियों, विशेष कर 'ग़ालिब' और 'नासिख़' के प्रभाव से फ़ारसीपन की ओर अधिकाधिक प्रवृत्ति बढ़ती रही, यहाँ तक कि क्रियाओं और अव्ययों को छोड़ कर अधिकांश आधुनिक उर्दू वाक्य का कोई भी अंश कदाचित् ऐसा नहीं जिस का भारत से अथवा किसी भारतीय भाषा मे सम्बन्ध हो। इस वर्णन में अत्युक्ति नही, यह नीचे के कुछ उद्धरणों से स्पष्ट हो जायगा, जो मैंने अप्रयास ही दो प्रमुख उर्दू पत्रिकाओं से चुन लिए हैं, जो इस समय मेरी मेज़ पर हैं। मई के 'निगार' के पहले लेख का पहला वाक्य ही इस प्रकार है :

"डाक्टर ज़ाकिर हुसेन कमिटी ने जो निसाब तालीम 'हिन्द जदीद' के लिए तजवीज़ किया है वह अपने मक़ासिद के लेहाज़ से इतना बलन्द है कि इस की मुख़ालिफ़त का (जिस हद तक अग़राज़ो मक़ासिद का सवाल है) किसी तरफ़ से इमकान नहीं, लेकिन हुसूल मक़ासिद के ज़राए के मुतल्लिक़ बेशक इख़्तिलाफ़ राय है और इस लिए इस वक़्त अहमतरीं सवाल यह है कि हम इस नस्बुल ऐन तक जो वारधा स्कीम के पेशेनज़र है, क्योंकर आसानी से पहुँच सकते हैं।"

दूसरे लेख का पहला वाक्य है :

"गुज़श्ता जंगे अज़ीम दो ज़बर्दस्त इन्क़िलाब पर ख़त्म हुई। एक इन्क़लाबे जर्मनी, दूसरा इन्क़लाबे रूस; लेकिन यह किस क़द्र अजीब बात है कि एक ही ज़रिए से दो पैदा होने वाली चीज़ें आपस में क़ुतुबैन का-सा हुदूद इख़्तिलाफ़ रखती हैं।"

'ज़माना' के पहले लेख का प्रारंभिक वाक्य इस प्रकार है :

"इस में कोई कलाम नहीं कि इक़बाल बहुत बलंदपाया शायर और अज़ीमुल्मरतबात मुफ़क्कर थे...बाज़ हज़रात को शायद इस बात के तसलीम करने में पसोपेश हो कि वह उलूमे रूहानी के मुअल्लम,.और

असरारे बातिनी के हकीम भी थे। और उन्हें रूहानियात की गहराइयाँ मालूम और रमूज़े मख़फ़ी से बख़ूबी आगाही थी।"

उसी पत्रिका में प्रकाशित एक कविता की प्रारंभिक पंक्तियाँ भी देखिए :–

ऐ सरापा सोज़, तस्वीरे जुनूँ आशुफ़्ता सर,
पैकरे इश्क़ो मुहब्बत, तफ़्तए दिल ख़स्ता जिगर;
इश्क़ का शोला निहाँ है क़ल्ब सोज़ां में तेरे,
शम्मा यह वह है कि जलती है शबिस्ताँ में तेरे।

दुर्भाग्य से उर्दू भाषा का यह रूप हो गया है—उसी तरह जिस तरह कि ब्रजभाषा के ह्रास के समय से हिंदी अधिकाधिक संस्कृत की ओर झुकी है। सादे, नित्य की बोलचाल के शब्दों का स्थान कठिन अपरिचित शब्दों ने ले लिया है। किस का कितना दोष है यह निर्णय करना व्यर्थ है। हिंदी और उर्दू दोनों ही के लेखक दोनों के बीच की बढ़ती हुई खाई के लिए समानरूप से दोषी हैं। यह खाई गहरी और वास्तविक है, और राष्ट्रीय कट्टरता से प्रेरित हो कर यह कहना पागलपन होगा कि नीचे के दो उद्धरण एक भाषा के हैं :

(१) शिलीभूत सौंदर्य, ज्ञान, आनंद, अनश्वर
शब्द शब्द में तेरे उज्ज्वल जड़ित हिमशिखर
शुभ्र कल्पना की उड़ान भव-भास्वर कलरव
हंस अंश वाणी के तेरी प्रतिभा नित नव,
जीवन के कर्दम से, अमलिन मानस सरसिज
शोभित तेरा, वरद शरद का आसन निज,
अमृत पुत्र कवि यशःकाय तव जरामरण जित,
स्वयं भारती से तेरी हृत्तंत्री झंकृत।
('रूपाभ', अप्रैल)

(२) ख़ुदा जाने तेरी मैं किस क़दर कैफ़ आफ़रीं होगी,
नज़र में तेरी जब रंगीनिए सद जाम है साक़ी।
समझते हैं यह बरबादे ख़िरद तेरी, अदाओं को,
भरी महफ़िल में तेरा राज़ तश्तज बाम है साक़ी।
निगाह लुत्फ़ अब तो रुशदिए दीवाना पर अपने,
कि मुद्दत से यह नज़रे गर्दिशे अय्याम है साक़ी।
('ज़माना'' मई)

'रियाज़' उन उर्दू कवियों में थे जो आवश्यक होने पर हिन्दी शब्द का उपयोग करने में सङ्कोच नहीं करते थे। वह 'अजीज़' लखनवी की भाँति नहीं थे, जिन्हों ने हिन्दी शब्द 'लाज' का अपने दीवान 'गुलकदा' की एक ग़ज़ल में व्यवहार कर के क्षमा-याचना करना आवश्यक समझा। 'रियाज़' के यहाँ ऐसे हिन्दी शब्द बहुतायत मे मिलेंगे, जिन्हें छोड़ कर उर्दू भाषा वास्तव में ग़रीब बन गई है। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं,—

काबा सुनते हैं कि घर है बड़े **दाता** का 'रियाज़';
ज़िन्दगी है तो फ़क़ीरों का भी **फेरा** होगा।

आएँ मेरी बज़्मे मातम में वह क्या ?
हाथ में मेंहदी **रची** अच्छी नहीं।

हम लें बलाएँ ज़ुल्फ़ की वह रात भी तो हो;
आए मज़े की **रुत** कहीं बरसात भी तो हो।

अदू की शबे वस्ल सौ बार सदक़े;
शबे ग़म है कितनी **सुहाती** हमारी।

बड़ी नटखट बड़ी चंचल है तबीयत मेरी।

बरसात की रुत, लुत्फ़ की है रात मजे की,
पिलवा दे मुझे पीर खराबात मजे की।

मेरी शम्मए लहद हंसमुख बड़ी है।

मुझ को अरमान, मनाए कोई मेरे दिल को;
उन को यह हठ कि ख़फ़ा है तो ख़फ़ा रहने दो।

हवाए गर्म ख़िज़ाँ में वह रङ्गो रुप कहाँ ?

अब दिल है, 'रियाज़' और न वह दिल की तमन्ना;
मँझधार में हम कश्तिए उम्मीद डुबा आए।

भाषा के सम्बन्ध में लिखते हुए 'रियाज़' की परिमार्जित शैली की प्रशंसा करना उचित ही है। भाषा के वह माने हुए उस्ताद हैं। उन की कविता के अन्य गुणों के सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है, परन्तु यह बात तो स्पष्ट है कि उन का शब्दों पर पूर्ण अधिकार है, मुहावरों का उपयोग बहुत सुन्दर ढङ्ग से करते हैं, और काव्य-रचना शास्त्र में वह अद्वितीय हैं। वह मुहावरों के बादशाह थे। वाक्य-विन्यास में उन का कौशल सराहनीय है। उन की रचनाओं में हमें शब्दों के व्यवहार में अनोखा-पन मिलता है, नवीनता मिलती है। यह कदाचित् उर्दू कविता का दुर्भाग्य है कि उस में केवल शाब्दिक कौशल पर बहुत ज़ोर दिया जाता है। मुशा-यरों में जिस प्रकार की पंक्तियों की प्रशंसा होती है, और जिस तरह उन का गुणगान होता है, उसे देखते हुए इस के अतिरिक्त क्या कहा जा

सकता है ? कविता के विचार और उस के अन्तर्गत कल्पना पर प्रायः कम ध्यान दिया जाता है । नई "बह्र' के अथवा पुरानी 'बह्र' के नए ढङ्ग से व्यवहार पर ध्यान आकर्षित किया जाता है; 'रदीफ़' के कौशल का बखान होता है; 'ग़ैर मानूस' शब्दों से बचने की प्रशंसा होती है। यह प्रथा कविता के पक्ष में श्रेयस्कर न होते हुए भी भाषा के लिए तो हितकर होती ही है। क्योंकि प्रत्येक रचयिता भाषा की सफ़ाई में दूसरे से बाज़ी ले जाने का प्रयत्न करता है। इस कौशल के लिए हम 'रियाज' से अच्छा उदाहरण नहीं पा सकते। एक ही ख़याल बीसियों ढङ्ग से दुहराया गया है। वही कल्पनाएँ सैकड़ों बार शब्दों के उलट-फेर के साथ आई हैं। केवल कथन में नवीनता है जिस के कारण वह ग्राह्य होती हैं। 'रियाज़' का छन्दों का ज्ञान भी अद्भुत है। कठिन से कठिन 'बह्र' का बहुत सहजता से निर्वाह् हुआ है। इस कार्य में 'रियाज़' को अपार क्षमता प्राप्त थी। वह लिखते हैं :—

वह क्या रङ्ग है, क्या ख़ूब तबीयत है 'रियाज़';
हो ज़मीं कोई तुम्हें फूलते फलते देखा।

'रियाज़' का यह गर्व क्षम्य है, इस लिए कि वह यथार्थ है। अपने सहज-ज्ञान और चिर अभ्यास द्वारा वह बोलचाल के शब्दों से वह प्रभाव उत्पन्न कर लेते हैं जो दूसरे बड़े-बड़े अपरिचित 'कवित्वमय' शब्दों द्वारा कर पाते हैं। यहाँ कुछ उदाहरण दिए जाते हैं :—

ख़ुदा जाने हुआ क्या कूचए जानाँ में दिल जा कर;
मेरा भूला हुआ, भटका हुआ, अब तक नहीं आया।

मरके हम दादे वफ़ा दें, तो भी कुछ पुरशिश नहीं;
यूँ ही सी है हुस्न की सरकार, कुछ यूँ ही सी है।

अथवा इस पंक्ति को लीजिए ,—

ज़ौफ़े पीरी जो बढ़ा, मौत के पैग़ाम चले।

एक स्थल पर वह सत्य ही कहते हैं :—

आ गया वक़्ते सफ़र, सुब्ह चले, शाम चले;

पीने का यह असर है, वह कौसर की हो न हो।

'रियाज़' की भाषा तथा शैली के गुण उन्हीं के शब्दों में कहे जा सकते हैं :—

पाकीज़ा, शुस्ता, साफ़, हमारी ज़बान है।

और उन का यह कहना भी यथार्थ है कि :—

मेरे कलाम में है मज़ा बोलचाल का।

× × ×

कुछ अंशों में, जिस वर्ग के वह कवि थे, उस वर्ग की परम्परा के कारण, और कुछ अंशों में अपने स्वभाव के कारण, 'रियाज़' की रचना में लालित्य और परिमार्जन विशेष हैं, और गहनता तथा चिन्तन कम। यह ठीक है कि कवि का काम एक दर्शन-मीमांसा प्रस्तुत करना नहीं है, और न धर्म-गुरुओं के स्थान को ग्रहण करना है। फिर भी यदि कविता जीवित रह सकती है तो केवल ललामता और शब्दों के कुशल व्यवहार का आश्रय ले कर नहीं। कवि को सूक्ष्म दृष्टि प्राप्त होनी चाहिए और उसे यथार्थता का गहरा अनुभव भी होना चाहिए। तभी उस की रचनाएँ क्षणिक मनोरन्जन का कारण न हो कर स्थायी प्रभाव डाल सकती हैं। 'रियाज़' की कविता में हम साधारणतया विचारों की गहनता कम पाते हैं, यद्यपि जहाँ-तहाँ उन की प्रेरणा प्रबल हो गई है और उन्होंने ऐसे भाव भी प्रकट किए हैं जो सत्य की गहराई में डूबे हुए हैं। फिर भी उन की अधिकांश रचना ऐसी नहीं कि वह वेदना की अनुभूति की छाप रखती हो। वह जीवन के ऊपरी सतह का स्पर्श मात्र करते दिखाई पड़ते हैं; और इस सतह पर उन की गति अवश्य ललाम है। नीचे कुछ ऐसी पंक्तियाँ

उद्धृत की जाती हैं जिन में वह ऊँचे भी उठे हैं और गहराई में भी पैठे हैं, जो करुणा का उद्रेक करती हैं, और जिन में हमें वेदना की अनुभूति मिलती है—उस वेदना की जो हमें उस देश का मार्ग दिखाती है जो वेदना से परे है :—

क़फ़स में हम थे, घिरी बादलों में बिजली थी;
तड़प तड़प के रहे दोनों आशियाँ के लिए।

वह कौन है दुनिया में जिसे ग़म नहीं होता ?
किस घर में ख़ुशी होती है, मातम नहीं होता ?

हम थक के गिरे, गिर के उठे, उठ के चले भी;
तुझ पर असर ऐ दूरिए मंज़िल नहीं होता।

भटका हुआ ख़याल है, उक़बा कहें जिसे;
भूला हुआ सा ख़्वाब है दुनिया कहें जिसे।

कितने काबे मिले रस्ते में कई तूर मिले;
इन मुक़ामात से हम को वह बहुत दूर मिले।

सैयाद घर तेरा मुझे जन्नत सही मगर;
जन्नत से भी सिवा मुझे राहत चमन में थी।

अजल, ख़ुदा के लिए रहम कर हसीनों पर;
मिला के ख़ाक में हुस्नो जमाल क्या होगा ?

'रियाज़' के यहाँ हमें ऐसे शेर भी मिलेंगे जिन में मीठा व्यग्य है अथवा जिन से उन का विनोदी स्वभाव प्रकट होता है । आमोद और परिहास की प्रवृत्ति तो उन की अनेक पंक्तियों में मिलेंगी । उर्दू की प्रेम सम्बन्धी कविता में हमें बहुधा उलाहने और प्रेमी के दग्ध तथा निर्जीव-प्राय होने के भाव का प्रदर्शन मिलता है । 'रियाज़' में यह बातें कम हैं । वह प्रेमी को दयनीय भिक्षुक के रूप में—जो दर्शन मात्र का प्यासा, और और सांत्वना का आकांक्षी तथा दलित और त्रस्त हो—नही दिखाते । उन का ढङ्ग और है :—

हम गुज़रे जिस तरफ से उधर उँगलियाँ उठी;
दीवाना हसीनों ने हम को बना दिया ।

देखिएगा सँभल के आईना;
सामना आज है मुक़ाबिल का ।

['जुरअत' की ग़जल में इसी तरह का एक शेर है :—
क्यों हो हैरान से ? क्या आईना देखा, प्यारे ?
कुछ तो बोलो कि यह किस ने तुम्हें ख़ामोश किया ?]

बना लूँ ख़ुदा, तो भी मेरे न होंगे;
बुतों में कोई भी हुआ है किसी का ?

क्या क़यामत है शबे वस्ल खामोशी उस की;
जिस की तस्वीर को भी नाज़ है गोयायी का ।

कभी क़ैस दीवाना, आता जो मुझ तक;
मेरे पास से बन के इन्सान जाता ।

मै कौन हूँ ? क्या हूँ ? नहीं मालूम कहाँ हूँ;
मुझ से कोई बेनामो निशाँ हो नहीं सकता।

कहीं भी जायँ कहाँ आसमाँ नही मिलता ?
लहद ही एक जगह है जहाँ नहीं मिलता।

ऐ जवानी, न जा बहार के साथ;
वह तो आएगी एक साल के बाद।

खाक में छुपना है तो कैसा गुरूर,
खाक में मिलना है तो कैसा घमण्ड ?

आए, आने को फ़स्ले गुल सौ बार;
मेरे दिल की कली खिली ही नहीं।

फ़सुर्दा दिल हूँ, मुझ क्या है, कोई मौसम हो,
भरी बहार में क्या था जो अब खिज़ां में नही।

जिन के दिल में है दर्द दुनिया का;
वोही दुनिया में ज़िन्दा रहते हैं।

जो मिटाते है ख़ुद को जीते जी;
वही मर कर भी ज़िन्दा रहते है।

बड़ी कोई नटखट है यारब क़ज़ा भी
चुने बाँके तिरछे जवाँ कैसे कैसे !

× × ×

न देखते थे कभी जो नज़र उठा के मुझे;
वह देखते हैं दमे हश्र मुस्करा के मुझे।

हसीनों का आलम नया हो रहा है;
कि जिस बुत को देखो ख़ुदा हो रहा है।

'दाग़' का एक शेर है,—

जिस में लाखों बरस की हूरें हों;
ऐसी जन्नत का क्या करे कोई ?

और 'रियाज़' कहते हैं :—

है फ़रिश्तों की बराबर उम्रे हूर;
क्या तमन्ना ऐसी कमसिन के लिए ?

'मीर' कहते हैं :—

इस के कूचे में न कर शोर कयामत का ज़िक्र;
शेख़ याँ ऐसे तो हंगामे हुआ करते हैं।

'रियाज़' का शेर है :—

डराता है हमें महशर से तू वायज़ अर जा भी !
यह हंगामे तो हम ने रोज़ कूए यार में देखें।

'रियाज़' की कुछ अत्यन्त पंक्तियाँ वृद्धावस्था पर है :—

वही शबाब की बातें, वही शबाब का रङ्ग;
तुझे, 'रियाज़े' बुढ़ापे में भी जवाँ देखा।

यह कम नहीं है बुढ़ापे में हम ने तौबा की;
तमाम उम्र में हम ने यह एक काम किया।

क्यों जवानी आई दो दिन के लिए ?
दिन गिने जाते थे इस दिन के लिए।

जवानी के नश्शे में कुछ सूझता है?
बुढ़ापे में अच्छी बुरी सूझती है।

बड़े लुत्फ़ से दिन गुज़र जाते यह भी;
बुढ़ापे में हम को जवानी जो मिलती।

'रियाज़' अब कहाँ वह जवानी का आलम,
गले से लगाते जवानी जो मिलती

यह स्वाभाविक है कि 'रियाज़' के 'दीवान' में हमें परंपरागत विषयों पर पुरानी शैली में लिखी हुई अनेक पंक्तियाँ मिलें। परंतु इन विषयों के वर्णन में भी वह कुछ नवीनता ला सके हैं। भाग्य की कठोरता और उदासीनता साधारणतया आकाश में प्रतिबिंबित दिखाई गई हैं। 'रियाज़' लिखते हैं :

ज़रा जो हमने उन्हें आज मेहरबाँ देखा;
न हम से पूछिए क्या रंगे आसमाँ देखा।

एक और पुराने विषय पर देखिए :

कहता है अक्स हुस्न को रुसवा न कीजिए;
हर वक़्त आप आईना देखा न कीजिए।

मदिरा की प्रशंसा में 'रियाज़' ने जो कुछ कहा है उसे मैंने जान-बूझ कर अंत के लिए छोड़ दिया है। इस संबंध में उन की अपनी एक विशेषता है। मदिरा उन्होंने कभी छुई भी नहीं, फिर भी यह महान् आश्चर्य की बात है कि उर्दू कविता में इस विषय पर जो कुछ कहा गया है, उस में 'रियाज़' का नाम अमिट रहेगा। मदिरा के विषय में इस उत्साह और आह्लाद के साथ उन्हों ने लिखा है कि पढ़ने वाले यह कभी नहीं समझ सकते यह केवल कल्पना के आधार पर कहे गए वाक्य हैं। वरन् ऐसा विचार उठता

है कि मदिरा-पान से उन्हें घनिष्ठ परिचय रहा है। जिन लोगों ने इस की ध्यान-पूर्वक गिनती की है उन का कहना है कि 'रियाज़' के दीवान में मदिरा का विषय ले कर लिखे गए शेरों की संख्या १३६६ से कम नही। फ़ारसी कविता की परंपरा ग्रहण करते हुए उर्दू कविता ने भी 'साक़ी', 'शराब', 'मैख़ाना', 'वायज़' आदि को बहुत अपनाया है, और यह संकेत लाक्षणिक हो गए हैं। मदिरा के संबंध में हमें उर्दू में बहुत अच्छे-अच्छे शेर मिलेंगे। जैसे:

न हम होश में मैपरस्ती से गुज़रे;
हुए जब कि बेहोश मस्ती से गुज़रे।

(मीर हसन)

दूर से आए थे, साक़ी, सुन के मैख़ाने को हम;
बस तरसते ही चले, अफ़सोस पैमाने को हम।

मै भी है, मीना भी है, साग़र भी है, साक़ी नहीं;
दिल में आता है, लगा दें आग मैख़ाने को हम।

(नज़ीर)

बह गए हैं, वायजा, गिरदाबे दौरे जाम में;
नीस्त भर होंगे न इस दरयाए मै से पार हम।

(नासिख़)

ज़ाहिद, शराब पीने से काफ़िर बना मै क्यों?
क्या डेढ़ चुल्लू में ईमान बह गया!

जौक़ जो मदरसे के बिगड़े हुए हैं मुल्ला;
उन को मैख़ाने में ले आओ सँवर जाएँगे।

(जौक़)

मसजिद में बुलाता है हमें ज़ाहिदे नाफ़ह्म;
होता अगर कुछ होश तो मैख़ाने न जाते;

(अमीर)

लुत्फ़े मै तुझ से क्या कहूँ ज़ाहिद ?
हाय कंबख़्त तूने पी ही नहीं।

ज़ाहिद, शराब नाब की तासीर, कुछ न पूछ;
अकसीर है जो हल्क़ के नीचे उतर गई।

जल्वए साक़ी वो मए जान लिए लेते हैं;
शेख़ जी ज़प्त करें, हम तो पिए लेते है।

(अकबर)

मेरे मज़हब में है वायज तर्के मैनोशी हराम;
छोड़ कर पीता हूँ फिर, तौबा इसी का नाम है।

(चकबस्त)

सच कहा था तूने, ज़ाहिद, ज़ह्ले क़ातिल है शराब;
हम भी कहते थे यही, जब तक बहार आई न थी

(जलील)

मैं और बज़्में मै से यूँ तिश्नाकाम आऊँ,
गर मै ने की थी तौबा साक़ी को क्या हुआ था ?

(गालिब)

मुज़्तरिब रूह कोई आगई मैख़ाने में;
ख़ुद बख़ुद मै को है गर्दिश मेरे पैमाने में।

(नासिरी)

लेकिन मेरी धारणा है कि शराब के विषय को ले कर 'रियाज़' ने जो विशेषता प्राप्त की है वह औरों को नहीं प्राप्त है। उन की कल्पना भौतिक है, उन का साक़ी शारीरिक आकर्षण रखता है; उन की शराब अंगूर के रस से बनी हुई शराब है। इसी प्रकार उन का प्याला नशा उपजाने वाला है, और सौंदर्य तथा यौवन का आभास करानेवाला है। लेकिन

वर्तमान समय से परे का संकेत भी हमें उन के यहाँ मिलता है। उन की शराब और भी मदिर और पूर्ण बन जाती है; उन का साक़ी एक आसमानी व्यक्ति हो जाता है, और उस मदिरापान तथा मित्रमिलन में जिस की वह चर्चा करते हैं कोई अश्लीलता या घृणा उपजाने वाली बात नही होती। इच्छा, और आकांक्षा, उल्लास और आत्मविस्मरण; दुःख और वेदना पर विजय; मदिरा-गृह के पथ का अंततः परमेश्वर के सिंहासन तक पहुँचना; उपदेशकों का उपहास और फिर भी एक आंतरिक संयम—यह सभी बातें 'रियाज़' की मदिरा-संबंधी कविता के विषय हैं, और उस की प्राण हैं।

तौबा करते हुए आता है यह रह रह के ख़याल;
मुँह मेरा देख के रह जायगा साग़र मेरा।

मैख़ाने में क्यों यादे ख़ुदा होती है अकसर?
मसजिद में तो ज़िक्रे मयो मीना नहीं होता।

रहमत को यह अदा मेरी शायद पसंद आए;
डर डर के, काँप काँप के, पीना शराब का।

कोई मस्त मैकदा आगया, मए बेख़ुदी वह पिला गया;
न सदाए नग़मए दैर उठी, न हरम से शोरे अज़ाँ उठा।

ऐ शेख़, वह काबा हो या हो दरे मैख़ाना!
तूने मुझे जब देखा सिजदे ही में सिर देखा।

काबे में नज़र आए, जो सुबह अज़ाँ देते;
मैख़ाने में रातों को इन का भी गुज़र देखा।

मैख़ाने में मज़ार हमारा अगर बना;
दुनिया भी कहेगी कि जन्नत में घर बना।

देख वायज़ मुझ को मै क्या हो गया;
आदमी था, पी फ़रिश्ता हो गया।

तुझे यह मै है अज़ाब वायज़, मुझे यह मै है सवाब वायज़;
अजीब शै है शराब वायज, मिले मुझी को अज़ाब तेरा।

हश्र में दूँगा एक के दस दस;
दे मुझे क़र्ज़ ऐ शराब फ़रोश।

शेख़ जाना है तुझ को जन्नत में;
देखता जा मेरी शराब का रंग।

कुछ मज़े में हम आगए ऐसे;
तौबा पीने से हम ने की ही नहीं।

किसी से हाय, साक़ी का यह कहना;
लहू मेरा पिएँ जो बे पिएँ जाएँ।
घटा उठते ही बौछारें यह हम पर;
अरे वायज़ कहाँ तक हम पिए जाएँ ?

मैकदे वालो, इधर भी निगाहे लुत्फ़े रहे;
दूर से काबा नशीं तुम को दुआ देते हैं।

न लूँ राहे मैख़ाना किस तरह वायज़;
यह बादल जो सर पर मेरे छा रहे हैं।

कमर सीधी करने ज़रा मैकदे में;
असा टेकने क्या 'रियाज़' आ रहे हैं ?

जनाबे शेख़, उलझते है किस तअल्लुक़ से ?
वह दुख़्तेरज़ के कोई रिश्तेदार भी तो नहीं।

उट्ठे भी कभी घबरा के तो मैख़ाने को हो आए;
पी आए तो फिर बैठ रहे यादे ख़ुदा में।

मुँह बनाता है बुरा क्यों वक़्ते वाज़ ?
आज वायज़ तूने पी अच्छी नहीं ?
बुतकदे से मैकदा अच्छा मेरा;
बेख़ुदी अच्छी ख़ुदी अच्छी नहीं।

काम मैख़ाने का हो जाएगा बंद;
चश्मे साक़ी की हया अच्छी नहीं।
शेख़ यह कहता गया पीता गया;
है बहुत ही बदमज़ा, अच्छी नहीं।

धड़के महशर के मिटाने को मेरे साक़ी;
मरते मरते भी पिलाई है मये ख़ूँ मुझ को।
तोड़ना है मुझे तौबा सरे महफ़िल साक़ी;
देखना है लबें साग़र का तबस्सुम मुझ को।

क़द्र मुझ रिंद की तुझ को नहीं, ऐ पीरे मुग़ाँ;
तौबा कर लूँ तो कभी मैकदा आबाद न हो।

खुदा के बंदे कुछ ऐसे निडर है, ऐ साक़ी;
हज़ार बार पिएँ तौबा एक बार न हो।

तौबा लब पर वायज़ से बे अख़्तियार आने को थी;
वह तो कहिए बच गए फ़स्ले बहार आने को थी।

शेख़ जी मैकदा वह जन्नत है;
तुम भी जा कर जवान हो जाते।

सौ रिंद पिएँ तो न हो ख़ाली कभी साक़ी;
ऐसा भी तेरे मैकदे में जाम है कोई ?

हश्र की इतनी हक़ीक़त होगी;
पास मैख़ाने के जन्नत होगी।

इतनी पी है कि बादे तौबा भी;
बे पिए बेख़ुदी सी रहती है।

अच्छी पी ली, ख़राब पी ली;
जैसी पाई शराब पी ली।
पी ली हम ने शराब पी ली;
आग थी मिस्ले आब पी ली।
आदत सी है, नशा है न अब कैफ़;
पानी न पिया शराब पी ली।
तौबा के बाद अब यह है हाल;
भूले से कभी शराब पी ली।

छोड़े कई दिन गुजर गए थे।
आई शबे महताब, पी ली।

शेर तक मेरे छलकते हुए साग़र हैं, 'रियाज़';
फिर भी सब पूछते हैं आपने मै पी कि नही।

'रियाज़' की कविता के विस्तृत दिग्दर्शन में मैं ने उस के गुणों के वर्णन का प्रयत्न किया है। उन का शब्द-विन्यास अद्भुत है; मुहावरों और बोलचाल की भाषा के उपयोग में वह अद्वितीय हैं; उन की कल्पना उर्वर है और शराब के विषय को ले कर उन्हों ने उन की रचना के कुछ ऐसे अङ्गों की ओर भी ध्यान आकर्षित किया है जो हमारी पीढ़ी के लोगों को कदाचित् पसन्द न आए। कुछ ऐसी बातें भी है जो 'रियाज़' के अन्ध-भक्त भी पसन्द न करेंगे। यदि उन के दीवान के कुछ अंश काट दिए जायँ तो उन की कोई क्षति न होगी वरन् उन की प्रतिष्ठा में वृद्धि होगी। इन सब बातों के होते हुए भी उर्दू ग़ज़ल लिखने वालों में 'रियाज़' के लिए ऊँचा स्थान दिया जाना उचित है। स्वयं कवि के शब्दों मे :—

यह खास रङ्ग हमेशा से तेरा हिस्सा है;
'रियाज़' मानते है सब तुझे तग़ज़्ज़ुल में।[1]

---

[1] "हिन्दुस्तानी" (इलाहाबाद) के जुलाई, १९३९, में प्रकाशित एक लेख।

'असर' और उन की कविता

खान बहादुर मिरज़ा जाफ़र अली खाँ, बी० ए० सिविल सर्विस के योग्य सदस्य और ज़िला अफ़सर के उत्तरदायित्वपूर्ण पद पर हैं। वह एक सुसंस्कृत महानुभाव हैं, अंग्रेज़ी साहित्य में उन की अच्छी गति और यूरोपीय कविता में भी अभिरुचि रखते हैं। अपने पद के कर्त्तव्यों में व्यस्त रहते हुए भी उन्होंने अपना साहित्य-प्रेम जागृत रक्खा है और पुराने तथा नए साहित्य का अनुशीलन मात्र ही नहीं करते वरन् उर्दू साहित्य में उन्होंने मूल्यवान् रचनात्मक कार्य भी किया है। समकालीन आलोचकों में उन का महत्वपूर्ण स्थान है। उन के विवेचन तथा आलोचनाएँ उन के प्रौढ़ मनन, सुरुचि और निष्पक्षता का निदर्शन करते हैं। साहित्य में क्या वस्तुतः मूल्यवान् है और क्या मूल्य-विहीन, क्या चिरन्तन और क्या क्षणिक—इस की उन्हें अच्छी परख है। उन की गद्य-शैली सहज, सरल होते हुए भी मनोरम् है। उस में बातचीत का सा प्रवाह मिलता है। उस में हमें फ़ारसी और अंग्रेज़ी की प्रतिध्वनियाँ मिलेंगी, फिर भी पाण्डित्य प्रदर्शन का प्रयास उस में नहीं मिलेगा। यों वह विशेष बातचीत नहीं करते, परन्तु जब अनुकूल सङ्ग मिल गया तो उन की बातचीत बड़ी ही हृदयग्राही होती है। कारण यह है कि जो कुछ वह कहते हैं गम्भीर मनन और अनुशीलन का परिणाम होता है, वह अपना विशेष दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं और जो कुछ वह कहते हैं वह दूसरों के विचारों की पुनरुक्ति मात्र नहीं होती।

आलोचना के क्षेत्र में 'असर' का नाम बहुत समय तक लिया जायगा क्योंकि उर्दू में अच्छी आलोचना की बहुत कमी है। साथ वह अपनी पीढ़ी के प्रमुख कवियों में भी गिने जायँगे। उन्होंने ग़ज़लें, रुबाइयाँ, नज़्में लिखी

हैं, नाटकों के तर्जुमे किए है; दाँते को उर्दू पद्य में उतारा है और मर्सियों की रचना की है । इन विविध पद्यों की रचना मे उन्हें अपूर्व सफलता प्राप्त हुई है । उन्होंने कुछ अच्छी लम्बी पद्य-रचनाएँ भी प्रस्तुत की है । उन की अपनी विशिष्ट शैली है, और वह किसी साहित्य-वर्ग के अनुयायी नही है । लखनऊ मे जन्म पा कर और वहाँ की परम्परा से निकट सम्पर्क रखते हुए भी वह 'मीर' तथा दिल्ली के अन्य कवियों की शैली के निकट हैं । उन की रचना मे दिल्ली के कवियों जैसी सादगी और लखनऊ शैली के कवियों का विन्यास-परिपाक मिलेगा । दोनों ही शैलियों के गुण उन की कविता मे मिलते है और यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि उन के प्रिय कवि 'मीर' है । वास्तव में 'मीर', आतश' और 'ग़ालिब' तीन महा-कवियों ने उन पर गहरा प्रभाव डाला, जान पड़ता है ।

मिरज़ा ज़ाफ़र अली खाँ का जन्म लखनऊ में, जूलाई सन् १८८५ में हुआ था । उन्हों ने जुबली हाई स्कूल में शिक्षा पाई । सन् १९०२ मे वहाँ से निकल कर यह कैनिंग कालिज में भर्ती हुए । डाक्टर वाइट की परम्परा वहाँ इस समय भी काम कर रही थी । सन् १९०६ में इन्होने इलाहाबाद यूनिवर्सिटी की बी० ए० परीक्षा पास की । सन् १९०९ मे वह प्रान्तीय सिविल सर्विस में प्रविष्ट हुए, और आज वह उसी सर्विस के एक ऊँचे पदाधिकारी हैं । ज़िले के प्रबन्ध-कार्यों, फ़ौजदारी के मुक़दमों और वकीलों की बहसों के सुनने में व्यस्त रहते हुए भी उन्होंने साहित्य और कविता में जो अनुराग बनाए रक्खा है वह प्रशंसनीय है । उन का कविता-प्रेम केवल क्षणिक समय-यापन के निमित्त नहीं है वरन् कविता का अभ्यास उन्होंने कला के रूप में किया है । उन्होंने आमोद-प्रमोद त्याग कर इस दिशा में परिश्रम किया है । पुराने उस्तादों की कृतियो का अच्छा मनन किया है और उन का ज्ञान बहुत विस्तृत है । कविता के क्षेत्र में मिरज़ा ज़ाफ़र अली खाँ ने कौशल प्राप्त करने का प्रयत्न

किया है और एक कलाकार की भाँति वह अपनी रचनाओं के प्रति उचित गर्व रखते है। सुन्दर वाक्य-विन्यास, नए प्रयोगों के लिए उत्साह, छन्दों के चुनाव में सुरुचि, और अपनी कविता को रोचक बनाने का उन का सतत प्रयास यह सिद्ध करते है कि वह एक उच्च कोटि के कलाकार हैं। उन की कविता में हमे युवकोचित उल्लास और सजावट मिलती है, परन्तु वह मनन और पवित्रता से भी पूर्ण है।

मिरज़ा साहब की प्रकाशित कृतियाँ अधिक नही है। मेरा अनुमान है कि दो पुस्तकों से अधिक उन्होंने नही प्रकाशित किया है। उन का दीवान 'असरिस्तान' सन् १६२४ में प्रकाशित हुआ था और उस पर एक विस्तृत भूमिका स्वर्गीय मौलाना अज़ीज ने लिखी थी। उन की दूसरी कृति 'लेडी अज्योर' नामक नाटक का अनुवाद है और यह भी सन् १६३० में निकल चुका है। मै उन की किसी अन्य कृति से परिचित नही हूँ। परन्तु मै उन की कविताएँ बराबर पत्र-पत्रिकाओं में पढ़ता रहा हूँ और मुझे कुछ कविताओं को मुशायरों में सुनने का भी अवसर प्राप्त हुआ है। उन की कविताओं के एक नए संग्रह की बडी आवश्यकता है और मै आशा करता हूँ कि इस के लिए लम्बी प्रतीक्षा न करनी पड़ेगी। उन की कविता के सम्बन्ध में निश्चित मत तो उसी समय बनाया जा सकता है जब कि उन की समस्त रचनाएँ पढ़ ली जायें, परन्तु जो कुछ प्राप्त है उस के आधार पर भी विचार करना अनुपयुक्त न होगा। अभी कवि वृद्ध नहीं हुआ है और उस के सामने रचनात्मक कार्य के लिए अनेक वर्ष है। समग्र रूप से उस की रचनाओं पर विचार सम्भव नहीं क्योंकि उस का कार्य अभी पूरा नहीं हुआ है।

मैंने बताया है कि मिरज़ा साहब के प्रमुख प्रभावकों में कवि 'मीर' हैं। यह बात किंचित् आश्चर्य-जनक है। इस काल में भी 'असर' भाषा की वह सादगी और सीधापन प्रस्तुत करने में समर्थ हुए हैं, जिन गुणों

के लिए 'मीर' विशेष रूप से विख्यात हैं। यह देख कर भी बहुत सन्तोष होता है कि वह बहुत से हिन्दी शब्दों और पर्याय का निस्सङ्कोच प्रयोग करते है। मदभरी आँखें, रोग, पापी, रतनारी, उदासी, अमृत, ध्यान, चितवन, मेल, जोगी, जटा, आसन, रसिया, आदि कितने ही शब्द है जिन के प्रयोग बराबर हुए हैं। यह बड़ी अच्छी प्रवृत्ति के सूचक हैं और यदि अन्य उर्दू कवि भी इस से उदाहरण ग्रहण करें तो बहुत ही अच्छा हो। भाषा की सादगी और सीधेपन के लिए 'असर' की प्रशंसा होनी चाहिए। समालोचकों के यहाँ यह एक प्रचलित कथन है कि शैली की सहजता और स्वभावोक्ति के गुण बड़े कलाकारों में ही मिलते हैं और कठिन, अप्रचलित शब्द और आडंबरपूर्ण शब्द-विन्यास नौसिखियों की चीजें हैं——

(१) दिल इश्क़ की मै से छलक रहा है;
इक फूल है जो महक रहा है।
आँखें कब की बरस चुकी हैं;
कौंदा अब तक लपक रहा है।
अब आए वहार या न आए;
आँखों से लहू टपक रहा है।
किस ने वहशिए असर को छेड़ा?
दीवार से सर पटक रहा है।

(२) न सुनना था जिस को आज उस को——
माजराए आलम सुना बैठे।
ध्यान किस से लगा हुआ है 'असर'?
सोचते रहते हो यह क्या बैठे?

(३) कोई दिल पर हाथ रख कर उठ गया;
हाथ अब दिल से उठाऊँ किस तरह?
मेरे कहने में नहीं है दिल 'असर'
इस को समझाऊँ बुझाऊँ किस तरह?

(४) इधर देख लेना, उधर देख लेना;
फिर उन की तरफ़ इक नज़र देख लेना।
वह मेरा न कहने में कह जाना सब कुछ;
वह उन का अचानक इधर देख लेना।

(५) जब सुना, यों ही सुना, तुम ने कि गोया न सुना;
फिर ग़लत क्या है कभी हाल हमारा न सुना?

(६) फेरता हूँ जो उधर से दिल को;
दिल उधर और चला जाता है।

(७) लहराता और लहरा गाता,
झरने का वह रसिया पानी।
मटका थिरका और गत नाचा,
अलबेला मतवाला पानी।
पेट को पकड़े मारे हँसी के,
बैठा, उट्ठा लोटा पानी।
डाली, डाली, पाती, पाती,
खूब ही झूला झूला पानी।

प्रकृति-वर्णन और दृश्यों का चित्रण कई उर्दू कवियों की रचनाओं में मिलता है। परन्तु इस प्रकार का विषय-चित्रण ग़ज़ल छोड़ कर अन्य शैली के पद्यों में हुआ है। ग़ज़ल का विषय मुख्यतया प्रेम माना जाता है जो उचित ही है। परन्तु फ़ारसी—और उर्दू परंपरा ने प्रकृति से इतने सङ्केत और प्रतिमाएँ ग्रहण कर लिए हैं कि ग़ज़ल में प्रकृति-चित्रण का होना परम्परा पर कुछ विशेष बड़ा आघात नहीं प्रतीत होता। सितारों की स्थिरता तथा अनुद्विग्नता, पतङ्ग की गति; बुलबुल का हृदय टूटना; बिजली का क़हर; बहार की हवा द्वारा नवीन प्राण-संचार—यह तथा अन्य प्राकृतिक घटनाएँ प्रेम-काव्य में बराबर दुहराई जाती ही हैं। परन्तु वह केवल उदाहरण के रूप

में, और उपदेश के अभिप्राय मे वर्णित हुई है। प्रकृति के प्रति सहज उल्लास; उस के दर्शन मात्र से संतोष, स्वयं प्रकृति के लिए उत्साह—यह ग़ज़ल में मिलना दुस्तर है। 'असर' अपनी ग़जलों में और ग़ज़लों के द्वारा प्रकृति-चित्रण में सफल हुए हैं। हमें बार बार प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण मिलेंगे।

(१) भरी बरसात और यह घुप अँधेरा !
अँधेरा आप सर टकरा रहा है।

(२) सुहागिन रात का ढलता है काजल।

(३) वह जो न आए, बादल छाए,
गरजे, बरसे, खुल भी गए;
इस के सिवा हम हिज्र के मारे,
क्या जानें बरसातों को ?

(४) सुन के पयाम सबा का, गुंचे लरज़ लरज़ गए।
जब हो यह हाल नाजुकी, हाथ कोई लगाए क्यों ?

(५) नाख़ुदा ने जब सुनाया मिजदए साहिल मुझे।
बढ़ के हिम्मत ने कहा आग़ोशे तूफ़ाँ चाहिए।

(६) है शाम का वक़्त दम बख़ुद है साहिल;
कुहसार है छाया, है सकूते कामिल।
फ़ितरत की ख़ामोशियों में गोयायी है;
महफ़िल को है इंतिज़ार-ए-मीरे महफ़िल।

(७) परदे में रात के मुसकराती आई;
आग़ोश में गुल के लहलहातीं आई॥
अँगड़ाइयाँ लेती हुई जागी हर शाख़;
अलबेली बहार गुनगुनाती आई।

(८) हौल फिर ऐसी दिल में समाई,
गिरता पड़ता भागा पानी।

भूल के पीछे मुड़ के न देखा,
इस दरजा था सहमा पानी।
रफ़्ता रफ़्ता फिर था खिलँदरा,
नद्दी से छींटे खेला पानी।
सूझी समन्दर से जो ठठोल,
ऐसा डूबा न उभरा पानी।

'असर' की कविता के विचारों पर ध्यान देने से पूर्व उन की सुन्दर उपमाओं का रसास्वादन कदाचित् अनुपयुक्त न होगा।

(१) हसरतें दिल से यूँ चलीं जैसे;
गोल उदासी फ़क़ीरों का जाए।
(२) हसरते अर्ज़े तमन्ना में जो लज़्ज़त है, न कुछ;
साज़ में इतने भरे नग़मे की ख़ामोश हुआ।
(३) यह शौक़ दीद में आँखों का रंग है जैसे;
अचानक आईने में आफ़्ताब देख लिया।
(४) मस्त आँखों पर ग़नी पलकों का साया यूँ था;
कि हो मैख़ाने पर घनघोर घटा छाई हुई।
(५) झपकी ज़रा जो आँख, जवानी गुज़र गई;
बदली की छाँव थी, इधर आई उधर गई।

इन उपमाओं की मौलिकता, नवीनता और उपयुक्तता प्रशंसनीय हैं।

'असर' की कविता पढ़ने वाले के लिए यह स्वाभाविक है कि वह उन पंक्तियों पर ध्यान दे जिन में शराब और पाप के परिचित विषय लिए गए हैं। यत्र-तत्र ऐसे वर्णन मिलते हैं जिन में कवि ने कवि-धर्म की ओर संकेत किया है। फिर जीवन और उस की समस्याओं तथा मृत्यु के सम्बन्ध में विचार मिलेंगे। उन के प्रेम-सम्बन्धी पद्यों का अन्तिम प्रभाव अबाध

रूप से स्वस्थकर है। उन के दार्शनिक विचारों के विषय में भी निवेदन करूँगा।

ग़ायर है तो इस तरह तमाशाई हो;
फ़ितरत तेरे अन्दाज़ की शैदाई हो।
आयात-व-इशरत का मर्कज़ हो दिल;
हर शै में नजर, नज़र में गोयाई हो।

एक 'मक़ता' यह है—

जामे ख़ाली को छलकते कभी देखा है 'असर'?
शेर में जोश कहाँ, दिल में अगर जोश नहीं?

विशेष रूप से ध्यान देने की बात यह कि वह सचाई, भावना की यथार्थता, को इतना महत्व देते हैं। उन की कविता में कहीं बनावट या स्वाँग नहीं। ऊँची ध्वनि के शब्दों मात्र से कविता नहीं बनती उसमें आत्मा का उद्‌गार होने की भी आवश्यकता है। सच्ची भावना से सहज उद्‌गार भी प्राप्त होता है। कवि की भावना तत्काल आनन्द या सुख में डूबी हो चाहे वेदना और उदासी में, उस की सत्यता, उस का खरापन स्पष्ट है। वह केवल अपने मस्तिष्क से काव्य-रचना नहीं करता, इस कार्य में उस का हृदय, उस की संपूर्ण आत्मा सहयोग देती है। अपनी कला में तन्मयता 'असर' की कविता का एक विशेष गुण है।

'वायज़' या उपदेशक संसार की अनित्यता की ओर संकेत करता है, ऐसे देश का वर्णन करता है जहाँ का गुलाब मुरझाता नहीं; क़यामत के दिन का चित्र खींचता है जब कि पापियों का चीत्कार मात्र सुनाई देगा और न्यायकर्ता उन पर तीव्र दृष्टि डालता होगा। परन्तु यौवन का प्रेम इन की चिंता नहीं करता। शराब का एक जाम सभी कातरता और भय को दूर करता है, और स्वर्ग के स्वप्नों से अच्छा है। पापी और पुण्यात्मा समान रूप से ईश्वर के प्राणी हैं और पाप भी ईश्वर की सृष्टि के भीतर की ही वस्तु है।

(१) जाते कहाँ ख़ुदाई के बाहर गुनाहगार ?
तेरी ज़मीं न थी कि तेरा आस्माँ न था ?

(२) ज़ाहिद ! ज़ाहिद ! ऐशे जन्नत मालूम ?
क्या मुझ को नहीं रंगे तबीयत मालूम ?
लुत्फ़ मयो शाहिद से जो बे बह्रा हो,
मुँह उस को लगाएँ हूरें, हज़रत, मालूम !

वे लोग जो पृथ्वी के सुखों का त्याग करते हैं, वह आने वाले सुख की लालसा से आकर्षित रहते हैं। जब कि हमारे चारों ओर इतना आनन्द, सूर्य का प्रकाश और संगीत फैले हुए हैं, तब हमारे पक्ष में यह कितनी बड़ी कृतघ्नता होगी कि इन सब को छोड़ कर हम किन्हीं नीरस, प्रेरणा-विहीन उपदेशों को ज्ञान-पट पर, बादल के अन्धकार की छाया डालने दें।

(१) हमीं महरूम हैं इक जाम से अल्लाह ! अल्लाह !
दौर पर दौर तेरी बज़्म में चलते देखा।

(२) मेरी तौबा से तौबा है, पिला साक़ी, पिला साक़ी !
करूँगा ख़ुम के ख़ुम ख़ाली दमे मैख़ाना आराई।

(३) शब की बेदारियाँ, अरे तौबा !
छुप के मैख़्वारियाँ, अरे तौबा !
दौर उस नरगिसे ख़ुमारी का,
अपनी सरशारियाँ अरे तौबा !

(४) तेरे होठों का तबस्सुम, तेरी आखों का ख़ुमार।
उन को भी साक़ी शरीके जाम होना चाहिए।

(५) कुछ नाम पर उन के भी मैं आज लुटा साक़ी।
इक जाम की हसरत में जो उठ गए दुनिया से।

(६) ऐसी तौबा से तो मैख़ार ही रहना था, 'असर' !
दिल पर इक हाथ है, इक हाथ में साग़र टूटा।

(७) उस पै भी छा रही है, मस्ती है ।
मैकदे को जो राह जाती है ।

(८) ग्रामादा नहीं दिल मेरा तौबा शिकनी पर ।
साक़ी अभी ज़िक्रे मये गुलफ़ाम किए जा ।

(९) लाख नीयत की मगर वायज़ इसे क्या कीजिए ?
जब ख़याले तौबा आया सामने जाम आ गया ।

(१०) होने दो, अगर वा दरे मैख़ाना हुआ है ।
साक़ी का तसव्वुर ही मये होशरुबा है ।

(११) मुझे तो होश नहीं तू ही कुछ बता साक़ी ।
करिश्मए निगहे मस्त है कि पैमाना ?
न लड़खड़ाए क़दम हुक्म है यह साक़ी का;
शराब शौक़ से लबरेज़ दे के पैमाना ।

उर्दू कविता में विशेष कर ग़ज़ल में, हमें अधिकांश भाग्यवादिता मिलेगी, बेबसी, लाचारी, निरुपायिता की भावना दिखाई देगी । या तो मौन-रूप से सहन का भाव है या निराशा का चीत्कार । क़यामत के दिन भी क्षतिपूर्ति की कोई उम्मीद नहीं; अधिक से अधिक इस बात की आशा है कि माशूक़ क़ब्र पर आएगा । रोना और कलपना है । उमङ्ग, आनंद, आशावादिता का अभाव है । जो नियति ने लिख दिया, लिख दिया । दर्द है, आहें हैं, माशूक़ को देख कर विस्मय है; वह माशूक़ भी कैसा, जिस पर धन, यौवन, बुद्धि तक सब कुछ निछावर है । ग़ज़ल का प्रभाव पढ़ने वालों पर कुछ इस प्रकार का पड़ता है । यह बात नहीं कि सूक्ष्म विभिन्नताएँ न हों । कभी कभी हल्का सा मज़ाक़ मिल सकता है, माशूक़ के प्रति ईश्वरीय न्याय की धमकी और सफल प्रेमी पर घातें भी, लेकिन सब कुछ मिला कर प्रभाव स्वस्थ, मानवोचित्त, संबल-पूर्ण नहीं । यह भी सत्य है कि टिप्पणीकार जो कुछ भी कहें यह प्रेम वासनापूर्ण

है और नीची सतह पर है, ईश्वरीय, पवित्र प्रेम नही। उर्दू की अधिकांश कविता छिछलापन और बनावटीपन के आरोप से नही बच सकती। परंतु 'असर' की कविता में प्रेम मानवी होते हुए भी पवित्र है, ऊर्ध्वगामी और परमार्थिक तक है। उस में उत्कंठा है, परंतु ऐसी नहीं जो वासना की तृप्ति चाहे। तृप्ति तो नाश की ओर ले जाने वाली है। प्रेमी और प्रियतम के बीच का एक परदा उन्हें सदा अलग रक्खेगा :

हया शेवए हुस्न, अदब शर्ते उल्फ़त;
मिले भी तो आपस में परदा रहेगा।

कुछ और पंक्तियां 'असर' की लीजियें :—

(१) इश्क़ साक़ी, इश्क़ मुतरिब, इश्क़ मस्ती, इश्क़ मै;
इश्क़ ही पैमानए मैख़्वार होना चाहिए।

(२) दिल मुझे सम्हाले था, दिल को मै सम्हाले था।
नागहाँ हवा आई जानिबे गुलिस्ताँ से।
कोई तो शफ़क़ समझा कोई गर्द रंग आलूद।
दूर 'असर' बहार इतनी गुज़री अह्ले ज़िंदाँ से।

(३) आगाह नहीं इश्क़ के आग़ाज़ से कोई।
क्या राज़ है वाक़िफ़ नहीं इस राज़ से कोई।
दुज़दीदा निगह, लब पै हँसी, आँखों में शोख़ी।
फिर देख ले मुझ को उसी अंदाज से कोई।

(४) मुझ को जवाब माफ़ न दे इल्तिमास का,
आबाद रहने दे चमन उम्मीदो यास का।

(५) हुआ तो हश्र के दिन उन का सामना लेकिन।
हुजूमे आम में क्या अर्ज़े मुद्दआ करते?

(६) पूछने वाले ! तूने पूछा, लुत्फ़ करम, इहसान किया।
लब पर आए हर्फ़े तमन्ना, इश्क़ के यह आदाब नहीं।

(७) न घबराओ असीरो फिर चमन में आशियाँ होगा।
गुल अपना, बाग़ अपना और अपना बाग़बाँ होगा।

(८) तासीर दर्दे दिल में यारब कहाँ की भर दी;
उस ने भी आज आख़िर चुपके से आह कर दी।

(९) मज़ाक़े इश्क़ हो कामिल तो सूरते शबनम;
किनार गुल में रहे और पाकबाज़ रहे।

(१०) अपनी वफ़ा न उन की जफ़ाओं का होश था।
क्या दिन थे जब कि दिल में मुहब्बत का जोश था।

(११) वही उन से कह रहा हूँ कि जो उन का मुद्दआ है।
नहीं मिस्ले दिल जबाँ पर भी अब अख़्तियार अपना।

(१२) बैठा हूँ रहगुज़र में लिए जिन्से आशिक़ी;
इस से ग़रज़ नही कि ख़रीदार कौन है।

(१३) हिज्र में राहत ही राहत है नसीब;
दर्दे दिल में लब पै तेरा नाम है।

(१४) मै आग में अपनी जलता हूँ, मै आप ही अपना शैदा हूँ।
परवाने अपने होश में रह, क्या मुझ को इश्क़ सिखाता है।

(१५) कौन असर की नज़र में समाए;
देखी है उस ने तुम्हारी आँखें!

(१६) कुछ भी न नज़र आए, यों मह्वे तमाशा हो।
फिर देख अगर, तुझ को, क्या क्या नजर आता है।

(१७) मैं क्या सुनाऊँ दर्दे मुहब्बत का माजरा;
हद हो गई कि तुम से शिकायत नहीं रही।

(१८) कभी सुन ले कि दिलकश दास्ताँ है।
ज़बाँ मेरी है और तेरा बयाँ है।

(१९) हाल पूछा था तो इस तरह न पूछा होता;
रह गई अर्ज़े तमन्ना की तमन्ना मुझ को।

(२०) यहीं सब को हिर-फिर के आना पड़ेगा।
मुहब्बत को मरकज़ बनाना पड़ेगा।

(२१) उन को समझता है आते हैं जो समझाने को;
कौन दीवाना कहेगा तेरे दीवाने को?

(२२) मैं तसल्ली से तेरी बाज़ आया;
सब्र कुछ और चला जाता है।

(२३) वस्ल हासिल नहीं तो मुमकिन है;
जो भी दिन है वह ईद का दिन है।

'असर' की रचना में ऐसे अनेक स्थल मिलेंगे जहाँ उन्हों ने जीवन की समस्याओं पर विचार किया है और जिन से हमें कवि की दृढ़ आशा-वादिता का पता चलता है। कवि के अनुसार कर्तृत्व, परिवर्तन, प्रगति, यही जीवन है। वह अपने मंतव्यों को हठधर्मी की भाँति नही वरन् प्रिय, मोहक शब्दों में प्रस्तुत करते है। वह, अपने पांडित्य का प्रदर्शन नही करते। उन के स्फुट शब्दों और वाक्यों में भी शक्ति और मोहनी है और मुझे ऐसा जान पड़ता है कि उन के विचार अंततः अदिस्टिपस द्वारा संचालित 'सीरिनेक' मत के निकट हैं, जिस के संबंध में फ़ेरियर ने यह मंक्षिप्त विवेचन किया था। "मानवता का सच्चा महाकाव्य, वह महा-काव्य जो कि समय के आदि से अंत तक निरंतर विकास पा रहा है, वह महाकाव्य जो कि नित्य समस्त मानवों के हृदय से बाहर आ रहा है—कभी आनंद की तानों में मिला हुआ, लेकिन बहुधा दुःख के चीत्कार में, आँसुओं में और मिटी हुई आशाओं के रूप में—यही तो वह स्वर्ग है जिस की खोज होती है?" जीवन के अनंतर जीवन मे अथवा मृत्यु के अनंतर जीवन में क्या रक्खा है? हमारे पास का कण-कण जीवन की मदिरा से चमक रहा है:—

कौन कहता है कि मौत अंजाम होना चाहिए?
ज़िदगी का ज़िदगी पैग़ाम होना चाहिए।

यहाँ कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं जिन में यह विचार स्पष्ट किए गए हैं। कुछ पद्य तो उक्तियों के रूप में ऐसे है मानो जीवन के पाषाण से गढ़ कर बने हों।

(१) ख़ुद लिपटी रही दुनिया उस से;
जिस से दुनिया को कोई काम न था।

(२) पूछिए किस से कि मंज़िल दूर या नज़दीक है ?
कारवाँ मिलता है, मीरे कारवाँ मिलता नहीं।

(३) रात अँधेरी, सख़्त मंज़िल, रास्ता दूरोदराज़।
ऐ मेरे अल्लाह थोड़ी रोशनी मेरे लिए।

(४) बहुत दैरो हरम की ख़ाक उड़ाई;
अब अपना ही परस्तिशख़ाना बन जा।
हर एक मंज़िल को ठुकराता हुआ चल;
पयामे हिम्मते मरदाना बन जा।

(५) सहर होने को आई जाग अब भी ख़्वाबे ग़फ़लत से।
रहेगा मुंतज़िर तेरा अमीरे कारवाँ कब तक ?

(६) हम किनार बहार हो कर मौज तूफ़ाँ-ख़ेज़ हो;
पस्त हिम्मत के लिए आग़ोश साहिल चाहिए।

(७) समझ में कुछ नहीं आता तिलिस्मे बूद ओ नाबूद;
न था तो क्या था, 'असर' और हूँ तो क्या हूँ ?

(८) फ़रयाद का शेवा कोई नहीं;
बेकस का सहारा कोई नहीं।
कुछ देख लिया इस दुनिया में;
कुछ हश्र में देखा जायगा।

(९) दिल में हिम्मत है अगर छोड़ दे साहिल का ख़याल।

(१०) तमाम नशा था अब सर-बसर ख़ुमार हूँ मैं;
खिजाँ न मुझ को समझ हासिले बहार हूँ मैं ।

(११) कुछ न कुछ हो ही रहेगा हिम्मते दिल बरकरार;
मौज है, गिरदाब है, क्या ग़म अगर साहिल नही ।

(१२) जमाने को इक रंग पर किसने देखा ?
बदलता रहा है, बदलता रहेगा ।

(१३) ख़ून के आँसू जो न रुलाए;
ऐसी कोई उम्मीद न होगी ।

(१४) शल न हो पाए तलब, टूटे न हिम्मत ऐ दिल;
और दो गाम ! सदा देती है मंज़िल मुझको ।

(१५) ना ख़ुदा ने जब सुनाया मिज़दए साहिल मुझे;
बढ़ के हिम्मत ने कहा, आग़ोशे तूफाँ चाहिए ।

(१६) तेरे होने की इक दलील हूँ मैं ।

(१७) जो राह चले हम वही तक़दीर चली ।

(१८) बेकार है फ़िक्र उम्रे फ़ानी क्या है;
क्या शै है ग़म और शादयानी क्या है ।
इस बज़्म में तिश्नाकाम रह कर उठ जा;
खुल जायगा राज़ ज़िंदगानी क्या है ।

एक और उद्धरण 'असर' के जीवन के प्रति दृष्टिकोण को सूचित करने के लिए पर्याप्त होगा ।

हिजाबाते तऐउन दरमियाँ से उठते जाते हैं;
अदम पर छूट पड़ती है शुआए ज़िंदगानी की ।
शिकस्ते रंग हस्ती से नुमायाँ रंग हस्ती है;
फ़ना तालीम है दरसे हयाते जावेदानी की ।

जैसा इन पंक्तियों से स्पष्ट है 'असर' इस जीवन में और अपर जीवन

में कोई भेद नहीं स्वीकार करते । ऊपर के आवरण को हटा कर देखिए । वास्तविकता एक है । अनंत जीवन को प्राप्त करने का साधन फ़ना है, अर्थात् निष्काम कर्म । ऐसे दृढ़ और सबल विश्वासों को धारण करते हुए 'असर' वास्तव में संसार के प्रति एक दार्शनिक का दृष्टिकोण रखते हैं ।[१]

---

[१] "हिन्दुस्तानी" (प्रयाग) में प्रकाशित एक लेख ।

शाद अज़ीमाबादी : एक बिहारी कवि

उर्दू काव्य-प्रतिमा अपने पखों पर उड़ कर दिल्ली से पटना और सुदूर मुर्शिदाबाद तक पहुँची और वहाँ उसे कुछ विख्यात उपासक मिले। ख़्वाजा मीर 'दर्द' ने चार ऐसे शागिर्द उत्पन्न किए थे जो काव्यक्षेत्र में कीर्ति पाने के लिए उत्सुक नए कवियों पर अपने उस्ताद की प्रतिभा की छाप डालने में सफल हुए—'क़ायम', 'हसन', 'तपिश' और 'अश्की'। इन में से अंतिम ने 'दर्द' का संदेश पटने तक पहुँचाया। 'अश्की' और 'अनीस' (लखनऊ के प्रसिद्ध मर्सिया कहने वाले कवि)—इन दो व्यक्तियों से 'शाद' ने अपनी काव्य-शिक्षा ग्रहण की और उन से बहुत-कुछ सीखा। वह स्वयं लिखते हैं—

हम-बज़्म रह चुका हूँ अनीसो-दबीर का।

'शाद' ने अपनी विकसित शैली और अपना विशेष रंग इन्ही कवियों की प्रेरणा के परिणाम-स्वरूप प्राप्त किया। उन्हों ने हिंदी साहित्य के स्रोत से भी जी भर कर जल पिया था।

ख़ान बहादुर नवाब सैयद अली मुहम्मद 'शाद' का जन्म १८४६ ई० में हुआ था और वह १९२७ में, ८१ वर्ष की परिपक्व अवस्था प्राप्त कर दिवंगत हुए। समकालीन उर्दू साहित्य के क्षेत्र में, बिहार प्रांत में, वह एकमात्र प्रधान साहित्यिक व्यक्ति हैं। इस कथन का यह तात्पर्य नहीं कि उन की रचनाओं में किसी प्रकार की प्रांतीयता की गंध है, और न यह कि उन की भाषा प्रामाणिकता की दृष्टि से, किसी भाँति दिल्ली और लखनऊ की भाषा से घट कर है। वास्तविकता तो यह है कि 'नियाज़' फ़तेहपुरी जैसे पारखी आलोचक की सम्मति में 'शाद' पिछली

आधी सदी के प्रमुख ग़ज़ल-गो शायर हैं। कवियों के वर्गीकरण का प्रयास न करते हुए इतना तो निस्संदेह कहा जा सकता है कि बहुत कम ऐसे कवि हैं, जिन्हों ने ग़ज़ल के मर्म को पहिचानने में, और उस की विविध, गतिशील, और चंचल प्रवृत्तियों पर अधिकार प्राप्त करने में उतनी सफलता पाई हो जितनी कि 'शाद' को मिली है। अपनी उपर्युक्त प्रवृत्तियों के कारण 'ग़ज़ल' में एक नित-नूतनता तथा आकर्षण है। सदियों की गति के साथ, ग़ज़ल ने कुछ विशेष प्रतीक एकत्र कर लिए हैं, जिन्हें हम प्रत्येक कवि की रचना में न्यूनाधिक सफलता के साथ दुहराया जाता पाते हैं। बँधी हुई कल्पनाओं से जकड़े रहने में कवि के लिए प्रत्यक्ष असुविधा अवश्य है, परंतु यही असुविधा कवि के कौशल के लिए एक प्रकार का आह्वान है कि वह अपनी रचना को नीरस होने से बचावे। यह पूछा जा सकता है कि मैख़ाना, शराब, और बुलबुल के विषय में कोई क्या नई बात कह सकता है ? शिकारी, शबनम और गुलाब के संबंध में हम कौन सी बात कह सकते हैं जो कि नई हो और जिसे प्रसिद्ध कवि लोग न कह गए हों ? बहार, फ़ुरक़त की रात माशूक़ का सितम, क़ब्र और हश्र का दिन---यह सब कल्पनाएँ बासी नहीं पड़ गई हैं तो क्या ? यह सभी संगत प्रश्न हैं, और इन का उत्तर यही है कि आज भी इन प्रतीकों का उपयोग न जाने कितने पढ़ने वालों के हृदयों में आनंद का प्रवाह करता है, और यह लोग इस बात मे आकर्षित होते हैं कि भावों के विविध स्तरों तथा विचारों के परिवर्तनों के प्रकट करने की इन में क्षमता है। न पिटी हुई कल्पनाओं और प्रतीकों के माध्यम से मौलिक बातें भी कही जा सकती हैं। जैसा ग़ालिब ने कहा है—

बनती नहीं है बादओ साग़र कहे बग़ैर।

× × ×

'शाद' के विषय में, साधारण ढंग से, यह जान लेना अनुचित न

होगा कि उन्होंने पुराने उर्दू कवियों की भाँति हिन्दी शब्दों का व्यवहार अच्छी संख्या में किया है, और बाद के कवियों की भाँति जान-बूझ कर उन का त्याग नहीं किया है। उदाहरण के लिए हम कुछ ऐसी पंक्तियों पर विचार कर सकते हैं, जिन में हिन्दी शब्दों के सुंदर प्रयोग मिलते हैं—

(१) समझा चुकी उस की पहली नज़र दुख दर्द जो वह सह जाना।
(२) कहो फूलों से औरों को दिखाएँ **रंग रूप** अपना।
(३) निकल के रूह **डाँवाडोल** हो न जाय कहीं।
(४) यह रात **भयानक** हिज्र की है।
(५) बड़े गुरू के पढ़ाए हुए यह **चेले** हैं।
(६) चले जायँ **बेथाह** दरया के अन्दर।
(७) **भरोसा** है जिस का उसी से दुआएँ।
(८) न जाओ दूर उन्हीं वायज़ों पर **ध्यान** करो।
(९) आँखों से सिधारी **दोनाई**।
(१०) **संसार** में हर चार तरफ़ हू का है आलम।
(११) बैठ न हर दम **आसन** मारे।
(१२) रात चली है **जोगिन** हो कर।
    ओस से अपने मुँह को धो कर।
(१३) इश्क़ में **एक मत** हुई सब की।
(१४) कुछ और **धुन** है, चला हूँ जो बाग़ को, ऐ शाद।
(१५) कहीं ज़हर और कहीं **अमृत** समझ में कुछ नहीं आता।
(१६) **कठिन** है यह घड़ी मुसीबत का ज़माना है।
(१७) जो देखे ग़ौर से सारा **भरम** खुल जाय दुनिया का।
(१८) **नित** नई दास्तान सुनते हैं।
(१९) मुज़तरिब यूँ तो हैं **परदेस** में सब **परदेसी**।
(२०) कुछ अजब तरह की **उदासी** है।

'दर्द' की शागिर्दी और हिन्दी के अध्ययन ने 'शाद' पर पूरा प्रभाव डाला था।

× × ×

फ़ारसी तथा उर्दू कविताओं में 'मैख़ाने', और 'साक़ी' के वर्णन भरे पड़े हैं। यहाँ पर इस बात के विचार करने की आवश्यकता नहीं कि यह प्रतीक मात्र हैं और इन के सांकेतिक अर्थ हैं। हाफ़िज़ और उमर ख़ैयाम और उन के अनुयायी कवि प्रकट अथवा गुप्त रूप में सूफ़ी थे या नहीं, इस प्रश्न के विविध उत्तर दिए गए हैं। मुख्य बात तो यह है कि उन्होंने 'शराब' के प्रतीक द्वारा एक ऐसे वातावरण का सृजन किया जिस में युगों से प्रेम-सम्बन्धी गीतिकाव्य जीवित रहा है।

यह एक बड़ी बात है कि सैकड़ों कवियों ने जिन्हों ने आजन्म मदिरा का स्पर्श तक नहीं किया, और जो वास्तव में उस के निकट जाना पाप समझते हैं, उन्हों ने भी इस की कल्पना से प्रेरणा प्राप्त की है। यह भी नहीं कि शराब की कल्पना व्यक्तिगत शोक के शमन के लिए की गई हो। इस की कल्पना का कवि के व्यक्तित्व से वास्तव में कोई सम्बन्ध नहीं। यह काव्य का एक प्रतीक मात्र है। मदिरा विस्मृति लाती है; यह जीवन की कठोर और निर्दय वास्तविकताओं से बचने के एक मार्ग की ओर सङ्केत करती है; यह शान्ति लाती है; प्रेरणा और स्फूर्ति उत्पन्न करती है। जो व्यक्ति स्फूर्ति, जीवनी शक्ति प्रस्तुत करता है—साक़ी—उस का स्वागत किया जाता है, उस की प्रशंसा की जाती है, उसे सिंहासन पर बिठाया जाता है, पीर-पैग़म्बर की बराबरी उसे दी जाती है। 'शाद' ने भी इस काव्य-परम्परा का अनुसरण किया है और सच्ची अनुभूति और स्फूर्ति के साथ अपनी रचनाएं प्रस्तुत की हैं।

मदिरा पीने की निरन्तर और उत्कट इच्छा है, लेकिन इस के पूर्व कई सामान एकत्र करने हैं—सुराही, प्याला, शराब। इस के लिए कितना धैर्य चाहिए !

(१) कहाँ से लाऊँ सब्र हज़रते-अयूब, ऐ साक़ी !
खुम आएगा, सुराही आएगी, तब जाम आएगा।

(२) लेके ख़ुद पीरे मुग़ाँ हाथ में मीना आया।
मैकशो शर्म कि इस पर भी न पीना आया॥

(३) ग़ज़ब निगाह ने साक़ी की बन्दोबस्त किया।
शराब बाद को दी पहले सब को मस्त किया॥

शराब की सुराही देखने से इमाम, रसूल, यहाँ तक कि ख़ुदा के देखने का आनन्द प्राप्त होता है :—

(४) सुबू के आते ही अल्लाह री ख़ुशी ऐ मस्त।
इमाम आया, रसूल आ गए, ख़ुदा आया॥

(५) दे के तहे सुबू मुझे, सब्र का हौसला दिया।
जिस की तलब थी साक़िया, उस से कहीं सिवा दिया॥

(६) न पूछ अहवाल साक़ी मैकशों का।
सुबू थे हाथ में आँखों में तू था।

(७) पिलाई शेख़ को दम देके अपने हिस्से की।
यही तो हम से बस इक रोज़ कारे-ख़ैर हुआ।

(८) साक़िया तू न मेरे शुक्र का मतलब समझा।
तब तो पैमानए ख़ाली को लबालब समझा॥

(९) न समझो और का आना इसे साक़ी का आना है।
उठो ताज़ीम को, रिन्दो, वली आया इमाम आया॥

मैख़ाने में जब वह लड़खड़ा कर गिरता है तो, ईश्वर को धन्यवाद है, साक़ी के पैरों पर गिरता है।

(१०) लड़खड़ा कर जो गिरा पाँव पर साक़ी के गिरा।
अपनी मस्ती के तसद्दुक़ कि मुझे होश रहा॥

(११) बज़्मे साक़ी के निसार, उस की कहानी दुहरावो।
क़िस्सए कौसरो अफ़सानए जन्नत मालूम॥

(१२) घटाएँ चार-सू उट्ठीं यहाँ ख़ाली है पैमाना।
तेरी फ़ैयाज़ियाँ हम भी तो ऐ अब्रे करम देखें॥

(१३) कहाँ यह ताब कि चख-चख के या गिरा के पिऊँ।
मिले भरा हुआ साग़र तो दग़दग़ा के पिऊँ॥

हे शिक्षक, मुझे पहले मदिरा पी लेने दे, उस के बाद यह इस प्रश्न को ले कर तर्क करेंगे कि क्या वर्जित है और क्या नहीं वर्जित है—

(१४) शराब पीने दे पहले, वायज़, फिर इस की तहक़ीक़ हो रहेगी।
यही न अब तक खुला कि आख़िर हराम क्या है हलाल क्या है॥

(१५) मैं निसार तुझ पै हूँ, साक़िया, तुझे मिल सके तो कहीं से ला।
जो पिला दिया था अलस्त में उसी जाम से हमें काम है॥

(१६) कहीं तो जाम धरा है किसी तरफ़ साग़र।
किधर झुकाए सर इन्सां, किधर नमाज़ करे?

कलियों का सन्देश और नव-जीवन लाने वाली वसन्त ऋतु उर्दू कविता का, और उर्दू का ही क्यों अनेक देशों के साहित्य का प्रिय विषय है। 'शाद' ने भी इस विषय पर बहुत कुछ कहा है। शबनम आँसू गिराती है लेकिन फूल मुसकराते हैं:—

(१) बहारे शबनमो गुल तेरे अख़्तियार में है,
कहीं किसी को हँसाना, कहीं रुला देना।

समय का चक्र आज वसन्त का आनन्द लेकर आता है तो कल पत-झड़ का भय।

(२) ख़ुशी बहार की, धड़का ख़िज़ाँ के आने का।
गुलो, फ़क़त यह उलट-फेर है ज़माने का॥

वसन्त के आगमन के साथ, जब कि कलियाँ खिलने को होती हैं, हमें आनन्द-विभोर होना चाहिए, परन्तु खेद है कि मनुष्य को कल के मुरझाए हुए फूलों का स्मरण हो उठता है और इस कारण उस के विचार उदासी में डूब जाते हैं:—

(३) गुज़रे हुए गुलों की शक्ल साफ़ नज़र में फिर गई।
और भी दिल तड़प गया, रङ्गे बहार देख कर ।।

वसन्त के दिन कितनी शीघ्रता से व्यतीत हो जाते हैं! तरुओं पर पुष्प खिल उठते हैं, लेकिन तुरन्त ही न पुष्प रह जाते हैं और न पत्तियाँ :—

(४) क्यों बाग़बाँ यही तेरे गुलशन की थी बहार?
ठहरे न फूल चार दिन इस रख-रखाव पर!

वसन्त के प्रभाव में मदिरा-गृह भरे हुए हैं और जीवन के लिए एक व्यापक उमङ्ग है :—

(५) तेरी ही आमद के सदक़े ऐ बहार,
आज क्या क्या मैकदे आबाद हैं!

अभी वसन्त के दिन बीते नहीं हैं, परन्तु भावी विपत्ति का भय वातावरण में समाया हुआ—उजाड़ और विनाश के हल्के चिह्न दिखाई देते हैं :—

(६) अभी से वीरानापन अयाँ है, अभी से वहशत बरस रही है।
अभी तो सुनता हूँ कुछ दिनों तक, बहार, ऐ आशियाँ, रहेगी।।

एकाकी और दुखी तथा उदास व्यक्ति के लिए वसन्त की मादक वायु और भी दुख तथा उदासी उत्पन्न करती है :—

(७) पहुँचाई बूए-गुल मेरे नाज़ुक मिज़ाज तक।
पत्थर तेरी समझ पै नसीमे चमन पड़े ।।

लेकिन स्वभावतः प्रसन्नचित्त व्यक्ति के लिए विपरीत परिस्थितियों में भी क्या डर है? काँटों से घिरा रहने पर भी गुलाब अपनी प्रसन्नता नहीं छोड़ता और खिल पड़ता है :—

(८) काँटों में है घिरा हुआ चारों तरफ़ से फूल।
इस पर खिला ही पड़ता है क्या ख़ुशमिज़ाज है ।।

हमें ओस-बिन्दुओं के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए। वसन्त बहुत समय हुए व्यतीत हो गया है, वृक्षों की शाखाएँ सूख गई हैं, पत्तियाँ झड़ गई हैं, लेकिन ओस धरती को भीगा हुआ रखती है—इस बात की सूचना देती है कि वसन्त दूर नहीं है :—

(९) इलाही शबनम रहे सलामत, बहार की यादगार है वह,
कि बाग़ सूखा पड़ा हुआ है, मगर ज़मीं देखिए तो नम है।

(१०) तुझे अन्दलीबे-नालाँ हो नजात अगर क़फ़स से।
मेरा तज़क़िरा भी करना जो कभी बहार आए।

× × ×

ग़ज़ल मुख्यरूप में प्रेम-सम्बन्धी कविता है, और प्रेम-भाव स्वभावत: इस में अपने विविध रूपों में प्रदर्शित होता है। अभिलाषा, उत्कंठा, आश्चर्य, इच्छापूर्ति की आशा, मिलन, वियोग, प्रतिस्पर्द्धी के प्रति घृणा, निराशा—सभी भाव इस के द्वारा प्रतिबिम्बित होते हैं। प्रेमी उपालम्भ करता है, भर्त्सना करता है, प्रार्थना करता है, दया उत्पन्न करने का प्रयत्न करता है, 'आक़बत' के दिवस का भय दिखाता है। अधिकांश प्रेमकाव्य उपालम्भ लिए हुए है, उस में विरह की उदासीनता है। यह उर्दू काव्य की ही विशेषता नहीं। शेक्सपियर से ले कर अनेक कवियों की पंक्तियों से इस के उदाहरण दिए जा सकते हैं। एक उद्धरण रवींद्रनाथ का ही ले लीजिए :—

"समय बीतता जाता है और अब भी तेरे रथ की पहियों की ध्वनि नहीं सुनाई देती। न जाने कितने जुलूस कोलाहल करते हुए और अपना गौरव प्रदर्शित करते हुए निकले जाते हैं। क्या तू ही अकेला छाया की ओट में उन के पीछे खड़ा रह जायगा?

और मैं ही एकाकी प्रतीक्षा में रुदन करता हुआ, अपने हृदय को व्यर्थ उत्कंठा में विदलित करता रहूँगा।"

इस में वेदना का पुट है।

अन्य कविताओं की भाँति उर्दू कविता में भी हास्य, वाक्पटुता, आदि मिलती है, लेकिन यह काव्य के बहिरङ्ग हैं; यह तीव्र भावनाओं को नहीं प्रकट करते। 'शाद' की कविता में ऐसे भावों के भी अनेक उदाहरण मिलेंगे। लेकिन सब से पहले हमें यहाँ प्रेमभाव सम्बन्धी पंक्तियाँ देख लेना चाहिए।

(१) कहाँ है उस का कूचा ? कौन है वह ? क्या ख़बर क़ासिद !
पर इतना जानते हैं नाम है आशिक़ नवाज़ उस का।

(२) अगर मरते हुए, लब पर न तेरा नाम आएगा।
तो मैं मरने से दर गुज़रा, मेरे किस काम आएगा॥

शबे हिज्रॉ की सख़्ती हो तो हो, लेकिन यह क्या कम है ?
कि लब पर रात भर रह रह के तेरा नाम आएगा।

(३) जब अहले होश कहते हैं अफ़साना आप का।
सुनता है और हँसता है दीवाना आप का॥

(४) इसे कहते हैं ख़ूबी, हम तो इस ख़ूबी के क़ायल हैं।
हुआ जब ज़िक्र एकताई का नाम आया वहीं तेरा॥

(५) तूने दीदार का जिन जिन से किया वादा।
हाय री, उन की ख़ुशी, हाय रे अरमाँ उन का !

(६) नालों की कशाकश सह न सका ख़ुद तारे क़फ़स भी टूट गया।
इक उम्र से थी तकलीफ़ जिसे कल शब को वह क़ैदी छूट गया॥

(७) हश्र में जो है वह लाता है क़दम झुक झुक कर।
आज देखे कोई रुतबा तेरे दीवाने का॥

(८) जब किसी ने हाल पूछा रो दिया।
चश्म तर तूने तो मुझ को खो दिया॥

(९) कुछ इस तरह से कही अपनी दास्ताँ ऐ शाद।
उन्हें भी आज बड़ी देर तक हँसा आया॥

(१०) बढ़ाया किस मुबारक राह में पाए तलब मैं ने।
कि अपने नक़्शे पा को चूम लेता है क़दम मेरा ॥

(११) आया तो दिल में था कि झुका दें जबीने शौक़।
लेकिन वहाँ की ख़ाक के क़ाबिल यह सर न था ॥

(१२) फ़क़त शोरे दिले पुर आरज़ू था।
न दुनिया थी, न मैं थी, और न मैं था ॥

(१३) तेरे गेसुओं को न भूले कभी हम।
शबें मुख़्तलिफ़ थीं फ़साना यही था।

(१४) ज़िन्दगी भी लक़ब इसी का है।
नाम मरना भी है मुहब्बत का ॥

(१५) वही रह रह के घबराना वही नाकारगर आहें।
बजुज़ इस के बता तुझ से दिले नाकाम क्या होगा ?

(१६) 'शाद' वक़्ते नाज़ था ख़ामोश लेकिन देर तक।
नाम रह रह कर किसी का ज़ेरे लब आता रहा ॥

(१७) ग़रीब शमा को ऐ सुबह यों न हँस के जला।
इसी ने रात को रौशन किए थे घर क्या क्या ॥

(१८) थक गए पाँव, गई दर-बदरी, शुक्रे ख़ुदा।
अब यूँही ता बक़यामत तेरे दर पर हम हैं ॥
हुस्नो इश्क़ एक हैं, ज़ाहिर में फ़क़त नाम हैं दो।
यह अगर सच है तो क्या उन के बराबर हम हैं ?

(१९) परवाने की बिसात ही क्या थी, फ़ना हुआ।
देखा तो शमा भी न रही अपने हाल में ॥

(२०) हज़ारों हसरतें हैं दिल में, लाखों आरज़ूएँ हैं।
भला नासेह, कमी किस चीज़ की अल्लाह के घर में ?

(२१) ऐ नालए हज़ीं, न असर तुझ में हो मगर।
इतना तो हो कि रोके किसी को रुला सकें ॥

(२२) अजल जब तक नहीं आती यही रोने-रुलाने हैं।

(२३) ख़लिश दिल की तो ऐ सैयाद मिटती इस असीरी मे।
अगर बिजली जला देती हमारे आशियाने को।

(२४) बढ़े जाते हैं दुख यह उम्र जूँ-जूँ घटती जाती है।
मगर मैं सोच कर ख़ुश हूँ कि बेड़ी कटती जाती है॥

(२५) सुना है बाद फ़ना के है ज़िन्दगानी फिर।
अगर यही है तो फिर हम कहीं के भी न रहे॥

(२६) शबनम को दिन दिखाया ज़माने ने कूच का।
कुल एक शब क़याम किया था ग़रीब ने॥

(२७) नरगिस को देख कर यही होता है अब यक़ीन।
हसरत भरी यह आँख किसी नौजवाँ की थी॥

(२८) नशेमन करे शाख़े गुल पर न बुलबुल।
किसी को भी यह शाख़ अब तक फली है ?

(२९) हिज्र का दिन भी दिन तो है लेकिन।
कुछ अजब तरह की उदासी है॥

फिर कुछ ऐसे शेर हैं जिन में कवि विनोद की अवस्था में जान पड़ता है। इन की शाब्दिक सूक्ष्मताएँ तथा वाक्पटुता हमारा मनोरञ्जन करती हैं। जैसे आकाश हमें मदिरा कहाँ से दे सकता है, जब कि उस का आकार आप ही एक उलटे हुए मदिरा-पात्र का सा है।

(१) ऐ फ़लक ! तुझ से यह उम्मीद कि तू देगा शराब।
ख़ुद तो तस्वीर है उलटे हुए पैमाने की॥

शिक्षक के लिए परामर्श देना सहज है। जब वह स्वयं अपना हृदय खो बैठे तब उसे वस्तु-स्थिति समझ में आ सकती है :—

(२) मज़ा मिल जायगा जीने का तुझको।
किसी ज़ालिम पै नासेह तू भी मर देख॥

कौन नहीं जानता कि यौवन के मद में तुम उन्मत्त हो, लेकिन इस के लिए मतवालों जैसी लड़खड़ाती चाल से चलना कब आवश्यक है :—

(३) नश्शए जोशे जवानी में किसे शक है मगर ?
यूँ न चलिए झूम कर यह चाल मतवालों की है ॥

मैं ने अपना हृदय उस की गली में पड़ा हुआ पाया। उसे उठा सकता था—लेकिन दी हुई वस्तु का वापस लेना कहाँ उचित है ?

(४) पड़ा हुआ था दिल उस कूचे में उठा लेते।
मगर जो दी हुई शै थी फिर उसे क्या लेते ?

संसार की सुन्दरियों की अपेक्षा स्वर्ग की परियों की कामना करना—यदि यही धर्म का पथ अनुसरण करना है, तो हे उपदेशक हम तुझ से बहुत अच्छे हैं :—

(५) बुतों से क़ता कर लेना फ़क़त हूरों के लालच से।
यही गर हक़परस्ती है, तो ज़ाहिद, तुझ से हम बेहतर ॥

(६) किताबों में तो बेशक सब्र की ताकीद है, नासेह।
सबक़ सब भूल जाता तू जो तेरा इम्तहाँ होता ॥

सन्देश-वाहक, प्रियतम-मिलन की स्वीकृति पत्र में दे ! कृपया ठीक-ठीक बताओ कि सन्देश का अर्थ क्या है ?

(७) नामाबर, वस्ल का इक़रार करें वह ख़त में।
इस इबारत का ज़रा फिर मुझे मतलब समझा ॥

मृत्यु में अब कोई नवीनता नहीं—वह इतनी साधारण-सी चीज़ है। मेरे लिए किसी दूसरे ही भाग्य का निर्णय करो :—

(८) कुछ और मेरे वास्ते तजवीज़ कीजिए।
मरने में कोई लुत्फ़ नहीं—आम हो गया ॥

हे देवदूतो, तुम्हें 'शाद' से अब और क्या निवेदन करना है ? मौन रहो , कोलाहल न करो, वह आराम कर रहा है :—

(६) हज़रते-शाद से करनी है फ़रिश्तो, क्या अर्ज़ ?
चुप रहो, गुल न करो, आप ने आराम किया ॥

× × ×

'शाद' के लिए मृत्यु की कल्पना भयावह नहीं। वह उस का स्वागत करते हैं। इस कल्पना द्वारा वह शान्ति और मुक्ति का अनुभव करते हैं, जिस में आत्मा अपने शारीरिक बन्धन से छूट जाती है। कोई कोलाहल नहीं, भटकना नहीं, शान्ति है और आराम है। क्रिश्चिना रोज़ेटी की निम्नलिखित पंक्तियों में उन के विचारों की प्रतिध्वनि मिलती है :

"ऐसी निस्तब्धता में जो प्राय: स्वर्गिक है,
मध्याह्नकाल से भी स्पष्ट अन्धकार उसे ग्रहण किए हुए है,
मौन ऐसा जो गीत से भी अधिक संगीतमय हो।
उस के हृदय तक ने अपना कम्पन बन्द कर दिया है :
अनन्त काल के प्रभात तक,
उस के विश्राम का आरम्भ होगा न अन्त, वह बना ही रहेगा।
और जब वह उठेगी तो जानेगी कि बहुत समय नहीं बीता है।"

इस विषय पर 'शाद' की कुछ विशेष प्रसिद्ध पंक्तियाँ हैं :—

(१) मैं अपने मरने को समझा हूँ न्यामत, ऐ शबे ग़म।
मैं और धुन में हूँ क्या कर सकेगी तू मेरा ॥

(२) तेरे घर की मेहमानी में है क्या ऐसा मज़ा ?
जो यहाँ आया वह ऐ गोरे-ग़रीबाँ रह गया ॥

(३) धोये कहाँ तलक तने ख़ाकी के बोझ को ?
अब रूह को मिले कोई गोशा पनाह का।

(४) चैन से शहरे-ख़मोशाँ में हर इक सोता है।
आसरा सब को है ऐ वादए फ़रदा तेरा।

(५) थके माँदे लहद में हम तो मर रहने को आए हैं।
फ़रिश्ते कहते हैं उठिए तो कुछ कहने को आए हैं ॥

(६) न बेचैनी न बेताबी रही तुरबत के सोने में।
अजब आराम से चुपके पड़े हैं एक कोने में ॥

(७) मुसाफ़िराने अदम को तो देखिए ऐ 'शाद'।
नही है कुछ जो तअल्लुक़ मज़े से सोते हैं ॥

(८) आराम से हूँ क़ब्र के अन्दर जो बन्द हूँ।
मै भी तो आदमी हूँ फ़राग़त-पसन्द हूँ ॥

(९) बेख़बर आज हर-एक काम से सो लेते हैं।
चौंकना सुबहे क़यामत को है सो लेते है ॥

(१०) अपनी हस्ती को ग़मो दर्दो मुसीबत समझो।
मौत की क़ैद लगा दी है ग़नीमत समझो ॥

(११) सलामत रहे अपनी तुरबत का गोशा।
कि हम बेघरों का यही इक मकाँ है ॥

(१२) ख्वाब दुनिया का अभी देख रहा था क्या क्या।
ऐ अजल क्यों मुझे सोते से जगाया तूने।

(१३) आँखें शबे फ़िराक़ में क्यों हो चली हैं बन्द ?
आई है नींद, मौत का शायद बहाना है।

(१४) फ़क़त भरोसे पै तेरे है ज़िन्दगी अपनी।
ख़ुदा हयात तेरी ऐ अजल दराज करे ॥

(१५) मौत क़ायम रहे दुनिया में हमेशा यारब।
एक यही शक्ल तो अपने लिए आराम की है ॥

(१६) आराम कर लो क़ब्र में चंदे, मुसाफ़िरो।
मंज़िल तक और अब कोई मेहमाँसरा नहीं ॥

× × ×

गीति-काव्य की रचना करने वाले कवि से हम इस बात की अपेक्षा नही करते कि वह हमारे सामने एक दर्शन-मीमांसा प्रस्तुत करे। गीति-काव्य द्वारा तो किसी मानसिक अवस्था विशेष का उद्गार होता है, एक

सुन्दर क्षण आबद्ध किया गया होता है। लेकिन इस लिए कि चूँकि कवि बार-बार गीत प्रस्तुत करता है, यह स्वाभाविक है कि वह जीवन के विषय में बहुधा अपने दृष्टिकोण और विचार को प्रस्तुत करे, सत्य के उस रूप को जो उस के अनुभव की सीमा में आया है आगे रक्खे। छिद्रान्वेषी समालोचकों को उचित नहीं कि छिद्रान्वेषण करें या असंगतियों की ओर संकेत करें। विचार स्वतन्त्र है। 'शाद' बहुत समय तक जीवित रहे और नित्य प्रश्नों पर उन के विचारों से अवगत होना उचित है— इस लिए नहीं कि वह जीवन की पहेली को हल करते हैं वरन् इस लिए कि वह जीवन को समझने का प्रयत्न करते हैं।

स्रष्टा के विषय में, जिसे कि प्रत्येक मनुष्य अपनी कल्पना के अनुसार बना लेता है, वह कहते हैं :—

जिस से तेरा बयान सुनते हैं।
नित नई दास्तान सुनते हैं।

विश्वास को वह सर्वोपरि ईश्वरीय गुण समझते हैं :—

भरोसा कर लिया है तूने जिस पर।
वही ऐ आदमी तेरा ख़ुदा है।

ईश्वरीय आज्ञा को प्रत्येक मनुष्य अपने ही ढंग से समझता है :—

है क्या बात आप के लब की।
सब समझते हैं अपने मतलब की।

जो वस्तु एक मनुष्य के लिए पथ्य है वही दूसरे के पक्ष में विष-तुल्य हो सकती है। एक हँसता है तो दूसरा रोता है। हो सकता है कि इस संसार में एक मनुष्य के आनन्द के पीछे किसी दूसरे का दुख लगा हुआ हो। जब कि ओस-विन्दु आँसू गिराते हैं तब फूल आनन्दित हो कर खिलते हैं :—

ओस पड़ती है होते हैं शुगुफ़्ता गुंचे।
रंज इस बाग़ में शायद सबबे शादी है॥

अधिकांश मनुष्य अपना समय अपनी आकांक्षाओं की तृप्ति में नष्ट करते हैं। जिस प्रकार कि बालक अपने को खिलौनों से प्रसन्न रखता है, उसी प्रकार मनुष्य अपने को और खिलौनों में फँसाए रहता है :—

तमन्नाओं में उलझाया गया हूँ।
खिलौना दे के बहलाया गया हूँ॥

आदमी को चलते ही रहना है। इस चलने का कारण हमें ज्ञात नहीं। लम्बी यात्रा पूरी ही करनी है। लेकिन आश्चर्य की बात तो यह है कि न कोई यात्रा की मंज़िलें जानता है न कोई उस का अन्त :—

सफ़र ज़रूर है और उज्र की मजाल नहीं।
मज़ा तो यह है न मंज़िल रास्ता मालूम॥

इस पृथ्वी पर किसी को अपना हृदय देना अथवा यहाँ सम्बन्ध स्थापित करना भूल है। यहाँ से जाने के बाद कोई वापस नहीं आता :—

तअल्लुक़ में न फँस दिल को लगा कर।
तुझे आना नहीं दुनिया से जाकर॥

सम्भव है कि थोड़ी ही मात्रा में हो, परन्तु प्रत्येक को आनन्द प्राप्त है। यदि किसी के भाग्य में दुःख और वेदना ही हों तो कौन जीवित रह सकता है ?

कम सही फिर भी तो मिलता है ख़ुशी का हिस्सा।
सिर्फ़ ग़म खाने से होता है गुजर किस का ?

आकांक्षाओं का अभाव सर्वोच्च लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक होता है। अपनी इच्छाओं को बिल्कुल मिटा दो तो तुम सब कुछ प्राप्त कर लोगे :—

यह समझाओ उसे दिल में हो जिस के मुद्दआ कोई।
कि तर्के मुद्दआ करने से हासिल मुद्दआ होगा॥

इन विचारों में कहीं निर्बलता या भटकाव नहीं। यह ऐसे आदमी के कथन हैं जिस ने दोलाचल अवस्था को पीछे छोड़ दिया है और जो जीवन को स्पष्ट देखने वाला है। इन के अध्ययन से बहुत कुछ सीखा जा सकता है और कवि की सर्वोत्तम पंक्तियाँ, जिन में से कुछ यहाँ उद्धृत की गई हैं, ऐसी हैं कि उन्हें याद रक्खा जाय।[१]

---

[१] "हिन्दुस्तानी" के जुलाई-सितम्बर, १९४५ अंक में प्रकाशित एक लेख।

मैथिली लोक-गीत

ग्राम्य-साहित्य, साहित्य का एक बहुत बड़ा अङ्ग है। कोई भी साहित्य जीवित नहीं रह सकता है जिस का मौलिक सम्बन्ध जन-साधारण से न हो। कुछ थोड़े से विद्वानों द्वारा कोई साहित्य अधिक दिन तक प्रफुल्लित, उन्नत और पल्लवित नहीं रह सकता है। साहित्य के कुछ अंश तो ऐसे हैं जो राजाओं और धन-सम्पन्न सज्जनों के आश्रय में रचे जाते हैं, कुछ ऐसे जो केवल प्रकांड पण्डितों को योग्य होते हैं, और कुछ ऐसे जो जन साधारण के लिए होते हैं। तीनों प्रकार के साहित्य का अपना अपना महत्त्व है और सब का अपना अपना मूल्य है। परन्तु यदि किसी देश अथवा समाज की यथार्थ झलक कहीं मिलती है तो तीसरे प्रकार के साहित्य में। यह साहित्य बहुधा मौखिक हुआ करता है। दादियों से सुनी हुई कहानियों, कृषकों की कहावतों, स्त्रियों के गानों में यह साहित्य मिलता है। परन्तु काल इतना परिवर्तनशील है और जनता की रुचि इतनी शीघ्रता से बदलती रहती है कि कुछ ही दिनों में यह साहित्य टीका की अपेक्षा करता है। इस लिए यह आवश्यक है कि इन का संग्रह यथा शीघ्र पुस्तक रूप में प्रकाशित किया जाय जिस से इन को मुद्रित अमरत्त्व प्राप्त हो। राकेश जी कोई सात आठ वर्ष से मिथला के भिन्न भिन्न गाँवों में जा कर लोक गीतों का संग्रह कर रहे हैं। जिस लगन से, परिश्रम से, एकाग्र-मन से इन्होंने इस महत्त्व का काम किया है उस की प्रशंसा जितनी की जाय कम है। प्रस्तुत पुस्तक में उन के संग्रह का थोड़ा ही भाग प्रकाशित हो रहा है। इसी पुस्तक के आकार के एक ग्रन्थ की सामग्री और तैयार है; और आशा है कि समय अनुकूल होने पर वह भी प्रकाशित हो जायगा। राजस्थान और बुन्देल खण्ड; ब्रज-मण्डल और छत्तीसगढ़

के लोक गीतों का संग्रह प्रकाशित हो चुका है अथवा हो रहा है। क्या ही अच्छा हो यदि इस प्रकार का काम और भी उपप्रान्तों में किया जाय। यह इतना बड़ा काम है कि साहित्य-संस्थाओं को इस ओर प्रवृत्त होना चाहिए। राकेश जी ने अकेले, बिना किसी की सहायता से, यह कार्य सम्पन्न किया है और सम्मेलन को इसे प्रकाशित करते बड़ी प्रसन्नता है।

लोक गीतों की विशेषता यह है कि इनमें हृदय के वास्तविक उद्-गार हैं और ये सद्यः हृदय-ग्राही हैं। शिष्टता और सभ्यता का वाह्य प्रभाव जो भी हो, शिक्षा और समाज द्वारा व्यक्ति विशेष में जो परि-वर्तन हो, किसी के मनुष्यत्व में, मानवता में कोई भेद नहीं होता है—कोई चाहे गाँव का रहने वाला हो अथवा नगर का, झोपड़ी में अथवा महल में, मूर्ख हो अथवा पण्डित, सन्तान के जन्म के अवसर पर, एक ही प्रकार का आनन्द सब को होता है। पिता माता के देहावसान से सभी को समान शोक होता है। विवाह के समय एक ही प्रकार की ख़ुशी मनाई जाती है। नव-विवाहिता कन्या जब अपने घर जाने लगती है तब उस के माता पिता का दुःख बहुत ही करुणापूर्ण होता है। किसी प्रियजन के विरह का शोक दारिद्रय के कष्ट, यौवन के उमङ्ग, बालकाल की क्रीड़ाएँ, वृद्धावस्था का असामर्थ्य, रोग, इत्यादि सब सभी युग और समाज के सभी श्रेणी में समान हैं। प्रकृति के दृश्य, ऋतुओं की सुन्दरता, वर्षा की कमी, सदा हृदय में भाव को उत्तेजित करने की सामर्थ्य रखती हैं। इन्हीं विषयों पर लोकगीत हैं। इन साधारण विषयों पर हृदय के यथार्थ और सत्य भावों का उदगार इनमें है। जब कोई किसी नदी पर नाव में यात्रा करता है तो उसे कहीं तो गगनचुम्बी पर्वत देख पड़ता है; कहीं जल-प्रपात, कहीं घने जंगल, कहीं बड़ी सुहावनी वाटिका, कहीं खेत, कहीं ऊसर भूमि, कहीं झोपड़े, कही श्मशान—ये सभी प्रकृति के अंश है और ये सब मिलकर प्रकृति के सम्पूर्ण और यथार्थ छवि दिखाते हैं।

हैं। इसी प्रकार मनुष्य के जीवन में उल्लास, खेद, विरह, मिलन, क्रोध, ईर्ष्या, स्नेह इत्यादि सभी भावों का कभी न कभी अनुभव होता है। इन में कुछ तो जीवन के मर्म्म तक पहुँच जाते हैं, कुछ केवल क्षणिक प्रभाव उत्पन्न करते हैं, कुछ व्यक्ति विशेष तक रह जाते हैं; और कुछ का प्रसार बहुत जनों तक होता है। लोकगीत के विषय में, "सुहृदसंघ" के वार्षिक अधिवेशन में मैंने कहा था: "इन सरल पदों में देश की यथार्थ दशा वर्णित है, यहाँ की संस्कृति इन में सुरक्षित है। सभ्यता तो वाह्य आडम्बर है, कल तुर्कों की थी, आज अंग्रेजों की है। भारतीयता हमारे गाँव के रहने वालों में है, जो शहरों में क्षणभंगुर आभूषणों से अपने स्वाभाविक रूप को छिपा नही चुके है, जिन में युगों से वेदना सहन की शक्ति है, जो सुख-दुःखमें, हर्ष-विषाद में, जगत्स्रष्टा को भूलते नहीं हैं, जो वर्षा के आगमन से प्रसन्न होते हैं, जो खेतों में, जाड़े गर्मी में, प्रकृति देवी के निकट, अपना समय बिताते हैं। इन गानों में हम मनुष्य के जीवन के प्रत्येक दृश्य को देखते हैं। कन्या के ससुराल चले जाने पर माता के करुण स्वर सुनते हैं। वे पुत्र के जन्म पर माता पिता के आनन्द की ध्वनि पाते हैं, खेतों के बह जाने पर हताश किसान के क्रन्दन, ब्याह के अवसर पर बधाई के गान, गृहिणी के विरह की व्यथा, सन्तान की असामयिक मृत्यु पर मूक वेदना—अर्थात् मानविक जीवन की नैसर्गिक कविता का रसास्वादन करते हैं।"

मैथिली भाषा और साहित्य बहुत प्राचीन है। प्राचीन ग्रन्थ के अनुसार मिथिला प्रान्त की सीमा यों है:

गङ्गाहिमवतोर्मध्ये नदी पंचदशान्तरे।
तैरभुक्तिरिति ख्यातोदेशः परमपावनः॥
कौशिकीं तु समारभ्य गंडकीमधिगम्य वै।
योजनानिचतुर्विंश व्यायामः परिकीर्तितः॥

इस को मैथिली में एक कवि ने यों लिखा है :

गंगा बहथि जनिक दक्षिण दिश पूरब कौशिक धारा ।
पश्चिम बहथि गंडकी, उत्तर हिमवत बल विस्तारा ॥
कमला त्रियुगा अमुरा धेमुरा बागवती कृतसारा ।
मध्य बहिथि लक्ष्मण प्रभृति से मिथला विद्यागारा ॥

आठवीं शताब्दी से अब तक इस प्रान्त की मातृ भाषा, मैथिली में साहित्य-रचना होती चली आ रही है। प्रारम्भ में तो मैथिली-अपभ्रंश में ग्रन्थ लिखे गये, जिस का एक ज्वलन्त उदाहरण विद्यापतिकृत "कीर्तिलता" है । इसी अपभ्रंश में 'बौद्धगान तथा दोहा' लिखे गये । विद्यापति ने संस्कृत की अपेक्षा देशी भाषा को अधिक महत्त्व दिया--वह कहते हैं :

सक्कय वाणी बहुअन भावइ, पाउँअ रस को मम्मन पावइ ।
देसिल वअना सब जन मिट्ठा, तैं तैसन जम्पओ अवहट्टा ॥

विद्यापति ने "कीर्त्तिलता" में जिस भाषा का प्रयोग किया है यह आज की मैथिली के बहुत समीप है ।

यथा :

वूडन्त राज्य उद्धरि धरेओ । प्रभुशक्ति यानशक्ति दानशक्ति तीनुहु शक्तिक परीक्षा जानलि । रुसलि विभूति पलटाए आनलि ।

तेरहवी शताब्दी में ज्योतिरीश्वर ठाकुर ने मैथिली में "वर्णरत्नाकर" नामक सुन्दर ग्रन्थ की रचना की । इस की लेखनशैली "कादम्बरी" से समता रखती है—यथा अन्धकार का वर्णन :

पाताल अइसन द: प्रवेश, स्त्रीक अइसन दर्लक्ष्य, कालिन्दीक कल्लोल अइसन मांसल, काजरक पर्वत अइसन निविड़, आतंकक नगर अइसन भयानक, कुमंत्र अइसन निफल, अज्ञान अइसन सम्मोहक, मन अइसन सर्वतोगामी, अहंकार अइसन उन्नत, परद्रोह अइसन अभव्य, पाप अइसन मलिन, एवं विध अतिव्यापक द:संचर दृष्टि-वंधक भयानक गम्भीर शुचि भेद अन्धकार देखूँ ।

इस भाषा में मैथिल हिन्दू और मुसल्मान, सब ने ग्रन्थ लिखा और यह साहित्य कम से कम ६ सौ वर्ष से विविध विषयों मे पूर्ण है। मुसलमानों ने मैथिली में मर्सिआ भी लिखा—यथा :

एहि दसौ दिन सैयद बँसवा कटौलकै रे हाय हाय।
से हो बँसवा भेलै बिसरनमा रे हाय हाय ॥
एहि दसौ दिन सैयद लकड़ी चिरौलकै रे हाय हाय।
से हो लकडी भेलै बिसरनमा रे हाय हाय॥

आजकल भी यथेष्ट संख्या में मैथिली अपनी मातृभाषा में ग्रन्थ लिख कर अपनी परम्परागत साहित्य सम्पत्ति की वृद्धि कर रहे है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है यह संग्रह अपूर्ण है। "राकेश" जी के पास अभी और बहुत सामग्री है। केवल 'नचारियों' की ही संख्या एक सहस्त्र के लगभग होगी। नचारी मिथिला की विशेष वस्तु है। कई सौ वर्ष से शिव-भक्ति पूर्ण ये गान वहाँ गाये जाते है। "आईने-अकबरी" में इस की चर्चा है, विद्यापति के समय से अब तक इस की रचना होती आई है। चन्द्र कवि के (जिन को अपनी बाल्यावस्था में मैं प्रात: नित्य देखा करता था और जिन की रचित "मिथिलाभाषा रामायण" एक विलक्षण ग्रन्थ है) दो नचारी में यह उद्धृत करता हूँ।

(१)

चलु शिव कोवराक चालि हे, दोपटा ओढ़ू भोला।
अछि भरि नगर हकार है भलमानुस टोला ॥
हाड़क हार निहार हे हेरथि बघ छाला।
हसति बसति सति आज हे जत आओ ति बाला ॥
मधुर राज जमाय हे छा उर करु त्यागे।
बहु विधि अतर सुगन्ध हे लागत अंग रागे ॥

प्रणत कहथि कवि 'चन्द्र' हे सुनु शम्भु निहोरा।
एखनहुँ धरि के रखाय हे रानिक दृगनोरा।

(२)

शिव प्रिय अभिनव गीत प्रीति सौ रचितहुँ।
शिवतट विगत विकार भक्ति सौ नचितहुँ॥
महोदार करुणवतार काँ जंचितहुँ।
अन्त समय हम कालकराल सं बचितहुँ॥
अछि भरोस मन मोर दया प्रभु करता।
शरणगत जन जानि सकल दुख हरता॥
मोर जीव दुखिया जानि सदा शिव ढरता।
जे चाहथि से करिथ भवानी भरता॥

विद्यापति के पद जो अन्य प्रदेशों में प्रसिद्ध हैं अधिकतर राधा-कृष्ण विषयक हैं, परन्तु उन के रचित अनेक उत्तम नचारी भी है।—यथा :

घर घर भरमि जनम नित
तनिकाँ के हन विवाह।
से अब करब गौरीवर
ई होए कतय निवाह॥
कतय भवन कत आँगन
बाप कतय कत माय।
कतहुँ ठओर नहिं ठेहर
ककर एहन जमाय॥
कोन कयल एह असुजन
कओ न हिनक परिवार।
जो कयल हिनक निबन्धन
धिक धिक से पजिआर॥

कुल परिवार एको नहि जनिका
परिजन भूत बेताल।
देखि देखि झुर होय तन
के सहय हृदयक साल॥
'विद्यापति' कह सुन्दरि
धरहु मन अवगाह।
जो अछि जनिक विवाही
तनिकाँ मेह पै नाह॥

"श्यामा-चकेवा" के सम्बन्ध मे पाठकों को यह जान कर उत्सुकता होगी कि इस का उल्लेख "पद्मपुराण" में है। "समदाउनि" एक बहुत ही करुणोद्रावक राग में गाई जाती है—विदा के काल की यह वस्तु है। संस्कृत साहित्य मे इस का विशिष्ट उदाहरण "अभिज्ञानशाकुन्तल" के "श्लोकचतुष्टयम" में है। समदाउनि कई अवसर पर गाई जाती है। नवरात्रि के पश्चात् जब दुर्गापूजा समाप्त होती है, तब का एक गीत यह है :

कि कहब जननि कहय नहि आवय छमिअ सकल अपराध॥
नवओ रतन नव मास वितिल भले तुअ पदलगि परमान।
चललहुँ आज तेजि सेवक गण आकुल सब हक परान॥
सून भवन देखि थिर न रहन हिअ नयन झहरि रह नोर।
गदगद बोल अम्ब तन थर थर हेरि अलोचन कोर॥

कन्या जब माता पिता से बिदा हो कर ससुराल जाती है उस समय उस को सम्बोधित करती हुई समदाउनि :

धिया हे रहब सबहक प्रिय जाय॥
एतय छलहुँ सम के अति प्रिय भेलि नेन पन देखि जुड़ाय।
ओतय रहब सम के अनुचरि भेलि भेटति ओतय नहिं माय॥

नेनपन से हम कतेक सिखाग्रोल बहुत बुझाय बुझाय।
जइतहिं ओतय रहब तहिना भेलि जनु दिग्र नाम हँसाय ॥
बाजि सकी नहिं, बहुत कहब की ग्राब कहल नहीं जाय।
सेवा समक करब तत्पर भय लेब हम तुरन्त ग्रनाय ॥
छोड़थि पैर नहि माय कहथि नहि गदगद कंठ सुखाय।
मन 'विन्ध्यनाथ' वियोग काल में कानब एक उपाय ॥

ग्रौर ग्राम की फ़स्ल समाप्त होने पर समदाउनि :

फल हे ! तेजह किएक समाज ॥
तोहरहिं बमें किछु गनल न उचनिच छोड़ल गेहक काज।
तुग्र गुण ग्रवुधि घुबुध मन होएत ई तोहि कत गोट लाज ॥
मन ग्रभिलाशा लाख हम धयलहुँ यतनहि हृदय नुकाय।
उमड़ि उमड़ि से मगन ग्रोतहि की एहन कठिन हिग्र हाय ॥
कोमल सरस विदित त्रिभुवन तों ग्रकपट तथिहुँ विशेष।
प्रकृत बुझल तुग्र गरल झरल हा सरल मनोहर वेष ॥
गदगद स्वर पुलकित तन थरथर ग्राब कहल नहिं जाय।
मन 'गणनाथ' उदास कहब कत थकलहुँ बहुत बुझाय ॥

चौठ चन्द के गीत प्रभाती, ताजिया के गीत, रास, मान, योग, उचती, लगनी, चाँचर, विरहा, मंगल इत्यादि ग्रौर ग्रनेक प्रकार के लोकगीत हैं। ग्राशा है कि साहित्य प्रेमी इन को ग्रादर की दृष्टि से देखेंगे ग्रौर इन में यथार्थ भारतीय संस्कृति की झलक पायेंगे।[1]

---

[1] श्री रामइक़बाल सिंह 'राकेश' द्वारा सम्पादित मैथिली लोक-गीत (प्रयाग, सं० १९९९) में डा० झा द्वारा लिखित भूमिका।

अमर कलाकार रवीन्द्रनाथ

रवि बाबू के प्रथम दर्शन मुझे सन् १९१४ में हुए थे, जब मैं प्रयाग में कालेज में पढ़ता था। तब वे नोबेल-पुरस्कार पा चुके थे। उन की कुछ रचनाएँ मैंने बँगला में पढ़ी थीं। आज भी-सत्ताईस वर्ष बाद—मुझे उनकी वह प्रकाशमय सुन्दर मूर्ति भूली नहीं है। इस बीच में उन के और भी कई बार दर्शन हुए-दूर से, सामीप्य में, सभाओं में, जोड़ासाँको भवन के एकान्त में, कलकत्ते में और प्रयाग में। उन की कृपा, उन का औदार्य, उन के हृदय की विशालता, उन की आकर्षण-शक्ति मैं कब भूल सकता हूँ? उन के कई निमंत्रण भेजने पर भी मैं शान्तिनिकेतन न जा सका इस का मुझे आजन्म खेद रहेगा।

हम जब उन के जीवन पर विचार करते हैं, तो हम को आश्चर्य होता है उन की कृतियों पर, हमें गौरव होता है उन कृतियों की विलक्षणता पर। उन के जीवन के जिस अंश पर भी हम ध्यान दें, हमें विश्वास है, उन की कीर्ति केवल समसामयिक हो कर नहीं रह जायगी। उन की कीर्ति किस पर निर्भर करती है? उन का जीवन, उन का व्यक्तित्व, बहुत ही शिक्षाप्रद है। लक्ष्मी के प्रिय पात्र, संसार के सभी सुखों के साधन रहते हुए भी रवि बाबू सरस्वती के सच्चे उपासक थे। मैं तो नहीं जानता कि किसी युग में भी कला की ऐसी सम्पूर्ण साधना किसी और ने की, जैसे कि रवि बाबू ने। मैं उन को श्रेष्ठ कलाकार के रूप में श्रद्धांजलि भेंट करता हूँ।

कला के किस अंग की उन से पुष्टि नहीं हुई? गीतिकाव्य में उन का स्थान बहुत ऊँचा है। शब्द-विन्यास, भावुकता, छन्दों पर आधिपत्य, छन्दों के निर्माण, लालित्य, जिस दृष्टि से भी हम देखें, इन पद्यों की

जितनी प्रशंसा की जाय, कम है। उपन्यास और आख्यायिका में चरित्र-चित्रण और कथा की रोचकता उत्तम हैं।

नाटकों में भी बड़ी सफलता प्राप्त हुई है। उन के निबन्धों में उच्च आदर्शों का समावेश है, विषयों का क्षेत्र विशाल है, गद्य-शैली चित्ताकर्षक है। साहित्य से आगे बढ़ कर संगीत-कला में उन्होंने एक बिलकुल ही नई रीति का आविष्कार किया, जिस में शास्त्रों की दुर्गमता और शास्त्रोक्त सिद्धान्तों की जटिलता से बचते हुए उन का बराबर यह यत्न रहा कि संगीत जन-प्रिय और श्रवण-मधुर हो। नृत्य और नाटचकला में भी वे बड़े कुशल थे। वृद्धावस्था में उन्होंने चित्रकला में काफ़ी ख्याति प्राप्त की। अँगरेज़ी और बँगला दोनों में उन के अक्षर बड़े ही सुन्दर थे।

कला सर्वमान्य नहीं होती। इस युग में कला धनियों अथवा आलसियों की वस्तु समझी जाती है। यह बहुधा कहा जाता है कि व्यथित संसार संगीत, साहित्य और चित्रकला से सन्तुष्ट नहीं रह सकता है। ऐसे विचार वाले भी रवि बाबू का आदर करते हैं, क्योंकि उन्होंने और भी कई ऐसे काम किए, जिन से उनके उद्योग और उन की कार्यकुशलता का पर्याप्त परिचय मिलता है। शान्तिनिकेतन, श्रीनिकेतन और विश्व-भारती की स्थापना कोई कर्मयोगी ही कर सकता था। इन संस्थाओं पर रवि बाबू के व्यक्तित्व की छाप है। ये संस्थाएँ ही आप की अमर कीर्तियाँ हैं। इन संस्थाओं की शिक्षा-प्रणाली, पाठचक्रम, रहने के नियम तथा समस्त वातावरण रवि बाबू के उच्च आदर्शों का ही फल है। इन की सहायता करना, इन की उन्नति में सहायक होना हम सब का कर्त्तव्य है।

हम उन के यह वाक्य स्मरण रक्खेंगे :—

"There are other factors of life which are visitors that come and go. Art is the quest that

comes and remains. The others may be important, but art is inevitable."
अर्थात्—जीवन के अनेक पहलू आगन्तुकों की तरह आते और चले जाते हैं; किन्तु कला एक ऐसा अतिथि है, जो आ कर फिर कहीं नहीं जाता। अन्यान्य आगन्तुक पहलू महत्त्वपूर्ण हो सकते हैं; किन्तु कला तो अपरिहार्य है।[१]

[१] विशाल भारत, जनवरी १९४७ ई० में प्रकाशित हुआ एक लेख।

स्व० श्रीमती बेसेन्ट

मुझे ठीक याद है कि पहली जिस सार्वजनिक सभा में मै उपस्थित हुआ था, वह सन् १९०५ में हुई थी और श्रीमती वेसेन्ट का उसमें भाषण हुआ था। सभा इलाहाबाद में हुई थी। मैं उस समय बालक था और श्रीमती बेसेन्ट ने जो कुछ कहा वह न तो मेरी समझ ही में आया और न जिस विषय पर वे बोलीं, उसी की याद है। यद्यपि इसे कितने ही वर्ष हो चुके, किन्तु उन के उस भाषण की शक्ति, उस के जोश, और ओजस्विता का जो प्रभाव मुझ पर पड़ा वह अभी तक वर्तमान है और कदाचित् सदा रहेगा।

बाद में मुझे कितनी ही बार उन्हें भाषण करते, बहस और वाद-विवाद में भाग लेते हुए देखने और स्वयं उन से मिलने और बात करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। सुनने वालों पर उन का जैसा आश्चर्य-जनक प्रभाव होता था, जिस प्रकार एक क्षण में गम्भीर वातावरण को वे आह्लादमय कर सकती थीं, हास्य और उक्तियों की जो निधि उनके पास उपयोग के लिए सदा तैयार रहती थी तथा आवाज़ के चढ़ाव-उतार की जो कला आपके पास थी, उसके कारण आपके भाषण महान हो जाते थे।

यहाँ तक कि आपके छपे हुए भाषण भी पढ़ने में बहुत सुन्दर जान पड़ते थे। यद्यपि उन का व्याकरण वाक्य-रचना, बातों का एक विशेष क्रमसे लाया जाना तथा रचनात्मक विचारधारा तो उनमें हमें देखने को मिलती थी, किन्तु श्रीमती बेसेन्ट के कण्ठ की मधुरता, नेत्रों की चमक तथा प्रभावपूर्ण अंगसंचालन का अभाव पाठक को खटकता था। श्रीमती

बेसेन्ट सदा लड़ती ही रहीं—कभी इंगलैण्ड में और कभी भारत में, कभी आर्थिक और सामाजिक असमानताओं के विरूद्ध और कभी राजनीतिक समस्याओं के ख़िलाफ़।

अपने प्रसिद्ध होमरूल आन्दोलन में श्रीमती बेसेन्ट को काफ़ी अधिक समर्थन प्राप्त हुआ था। कांग्रेस की अध्यक्षा की हैसियत से आप ने एक ऐसी संस्था में शक्ति और उत्साह का संचार किया था जिसे नवजीवन की आवश्यकता थी। थिओसोफ़िकल सोसाइटी में आप ने विरोधियों की आलोचना, निन्दा और साथियों के छोड़े जाने को सहन किया तथा जिस बात पर वे विश्वास करती थीं, उस पर दृढ़ता से डटी रहीं। श्रीमती बेसेन्ट ने अपने विरोधी पैदा किए, साथ ही अपने अनुयायियों और सच्चे साथियों को भी जन्म दिया; परन्तु जो लोग उन्हें प्रेम और श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे उन की संख्या उन की अपेक्षा सदा अधिक थी जो उन पर अविश्वास करते थे और उन के जोश एवं विकट शक्ति को सन्देह की दृष्टि से देखते थे।

यदि श्रीमती बेसेन्ट अपने कार्यों को थियोसोफ़िकल सोसाइटी तक ही सीमित रखतीं और अपनी समस्त शक्ति और साधनों का उपयोग केवल थियोसोफ़ी के सिद्धान्तों के प्रसार ही में लगातीं तो यह कल्पना करना अनुचित न होगा कि भारत में ज़ो साम्प्रदायिक झगड़े आज फैले हुए हैं, कभी उठे भी न होते। श्रीमती बेसेन्ट के प्रारम्भिक व्याख्यान से हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म और इस्लाम के सम्बन्ध में कुछ-एक के पढ़ने का मुझे स्मरण आता है और मैं जानता हूँ कि इन के कारण उक्त धर्मों के मुख्य सिद्धान्तों के प्रति मेरे मन में कितनी श्रद्धा का उदय हुआ था। थियोसोफ़िकल सोसाइटी का मैं सदस्य नहीं हूँ और न कभी पहले ही था, किन्तु भारत में राष्ट्रीय आत्मसम्मान की भावना जाग्रत करने में इस की सेवा अतुलनीय है। इसके कारण पहली बात तो यह हुई कि शिक्षित भारतवासियों के हृदय में अपने धर्म के प्रति विवेकयुक्त विश्वास की नीव

जमी और दूसरी यह कि उन में अन्य धर्मों के प्रति सहनशीलता की भावना का उदय हुआ।

यदि श्रीमती बेसेन्ट के कार्य के इस अंग को अधिक महत्त्व मिला होता तो सम्प्रदाय और सम्प्रदाय, धर्म और धर्म के बीच जो पारस्परिक घृणा सन्देह और शत्रुता के भाव फैले हुए हैं, उन में आज कमी हो गई होती और निश्चय ही वृद्धि तो कभी न हुई होती। आज नास्तिक यूरोप के कार्यकलाप के प्रभाव के कारण देश जो कुछ भूल रहा है, सो वह न भूला होता और राष्ट्र ने यह स्वीकार किया होता कि मनुष्य रोटी से ही नहीं जीवित रहता और न अर्थशास्त्र को अन्य सभी सिद्धान्तों का स्थान देना ही उचित है।

शिक्षा के क्षेत्र में भी श्रीमती बेसेन्ट ने जो कार्य किया है, उस का स्थायी महत्त्व है। बनारस के सेन्ट्रल हिन्दू कालेज में पूर्व और पश्चिम की सर्वश्रेष्ठ बातों का सर्वोत्तम मिश्रण था। रिचार्डसन, उनवाला, भगवानदास, वोडहाउस, आरन्डेल, जयगोपाल बनर्जी—इन से किसी प्रकार का सम्बन्ध रखना और उन के चरणों के पास बैठना ही कुछ कम शिक्षा न थी। वहाँ के शिक्षकों में सेवा की सच्ची भावना थी और विद्यार्थियों में भी कालेज के लिए सच्चा उत्साह था। राष्ट्रीयता को वहाँ ऐसे समय प्रोत्साहन दिया जाता था, जब उसे केवल सन्देह की ही दृष्टि से नहीं देखा जाता था, बल्कि उस का ज़ोरदार विरोध भी किया जाता था।

श्रीमती बेसेन्ट के विषय में यह कहना बहुत अनुचित न होगा कि अपने अन्तिम वर्षों में न तो उन की ख्याति में ही कुछ वृद्धि हुई और न थिओसोफ़ी शिक्षा या राजनीति के क्षेत्र में उन्होंने जो कार्य किया था, उस में ही कुछ प्रगति हुई। श्रीमती बेसेन्ट बड़े गरम वातावरण में रही थीं। संघर्ष के समय वे अग्रगण्य थीं। अपने कार्य में वे कभी चूकती न थीं—लिखते, निरीक्षण करते, व्याख्यान देते, चन्दा इकट्ठा करते, विवाद करते और सदा आलोचनाओं का उत्तर देते ही उन का समय जाता था।

आरामतलबी और आनन्द के जीवन से उन्हें घृणा थी। अपनी मृत्यु पर्यन्त वह कड़ी मेहनत करती रहीं।

भावी पीढ़ियाँ श्रीमती बसेन्ट को केवल उस के लिए याद रखेंगी, जो कुछ कि उन्होंने किया है, किन्तु जो उन्हें जानते थे वे उन का उन के व्यक्तित्व के लिए भी श्रद्धापूर्वक स्मरण करते रहेंगे। इस जमाने मे जब कि लोगों को ख्याति जितनी जल्दी प्राप्त होती है, उतनी ही जल्दी मिटती है जब हर रोज नए नेता बनते हैं---उन प्राचीन पथ-प्रदर्शकों और मार्ग-निर्माताओं के नामों को स्मरण करना और उन की सफलताओं का उल्लेख करना बिलकुल अनावश्यक न होगा।[१]

---

[१] भारत, (प्रयाग) सन् १९३८ में प्रकाशित।

कलाकार का कर्तव्य

हिन्दी में मौलिक उपन्यास और कहानियाँ यथेष्ट संख्या में अब प्रकाशित होती हैं। इन में उपन्यास कला के नियमों के पालन की भी चेष्टा हुआ करती है। पाश्चात्य ग्रन्थों का भी इन पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। भारत के जीवन, भारत की समस्यायें, भारत के नर-नारी-इन से हमारे उपन्यास लेखक प्रचुर सामग्री एकत्रित कर सकते हैं। संसार में सभी प्रकार के मनुष्य हैं। जीवन में अनेक रूप के अनुभव हुआ करते हैं। घटनायें भी कई प्रकार की होती हैं। कलाकार का कर्त्तव्य है कि वह ऐसे चरित्रों का चित्रण करें, ऐसी घटनाओं का वर्णन करे, जिन से विश्व का कल्याण हो और मनुष्य का हृदय सत्य और सौन्दर्य की ओर आकर्षित हो।[1]

---

[1] श्री दयाव्रत शर्मा द्वारा लिखित "मनुष्यता के समीप" (मुरादाबाद, सन् १९४० ई०) में डा० झा के लिखे हुए "आशिष" से।

योरुप के और संस्कृत के नाटक[1]

नाट्य कला संस्कृत में सैकड़ों वर्ष से प्रचलित है। केवल ग्रीस में कुछ इने-गिने नाट्यकार उस समय में वर्तमान थे। शोकान्त नाटक लिखने ईस्किलस, सोफ़ौक्लीज़, और यूरिपिड़ीज़ प्रधान थे और सुखान्त नाटक और प्रहसन के लिखने में ऐरिस्टौफेनीज़ सिद्धहस्त थे। इन्हीं चार-पाँच कवियों की रचनाओं के सहारे अरिस्तू ने नाटक के सिद्धान्तों का निर्णय इस सुचारु रूप से किया कि यूरुप में अब भी उन का बड़ा सम्मान है। उन के बताये हुए नियमों का पालन कवियों का कर्त्तव्य-सा हो गया है। वर्षों तक समालोचक 'नाटक अच्छा है कि नहीं' इस प्रश्न के उत्तर में यही देखा करते थे कि इस में अरिस्तु के नियमों का पालन हुआ है अथवा नहीं। उन के कुछ नियम तो सर्वदा आदरणीय रहेंगे क्योंकि उन का सम्बन्ध काव्य के मूल अङ्गों से है, परन्तु कुछ ऐसे भी नियम हैं जिन का काल के परिवर्तन से अब पालन हानिकारक और निरर्थक है। वर्तमान समय में यूरप में नाट्यकार यदि उछृङ्खल नहीं तो स्वतंत्र अवश्य हो गये हैं। नियमों का परिपालन उन के लिये दुष्कर हो गया है। स्वाभिरुचि एकमात्र पथप्रदर्शक का काम करती है। इस का फल यह है कि जो लेखक के चित्त की प्रवृत्ति है उसी का, अविकल रूप में, प्रतिबिम्ब नाटक में मिलता है। अरिस्तू के पहले भी यही दशा थी। ईस्किलस के नाटक में हम उस की आस्तिकता की झलक पाते हैं; साफ़ौक्लीज़ कभी-कभी घबड़ा जाता है परन्तु देवता में उस की श्रद्धा बनी

[1] श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र द्वारा लिखित "राजयोग" (बनारस, १९३४ ई०) में डा० झा के लिखे हुए "प्राक्कथन" से।

रहती है; यूरिपिडीज़ तो देवताओं को भी मनुष्य के समान निर्बल और निस्सहाय समझता है। अपने मत को, अपनी प्रकृति को, अपने विश्वासों, आकांक्षाओं स्वप्नों को किसी-न-किसी रूप से ये सभी अपनी कला में स्थान दे देते थे। भेद केवल इतना है कि ये महाकवि थे और आजकल के स्वेच्छाचारी लेखकों में थोड़े ही कवि के पदवी के योग्य हैं।

संस्कृत का नाटयसाहित्य किसी और भाषा से कम नहीं है—संख्या में अथवा गुणों में। लेकिन जिस समय में इन का विकास हुआ उस समय मनुष्य की सब से प्रधान चिन्ता ईश्वराराधना थी। देवताओं की कृपा अथवा उन का क्रोध; फिर राजा महाराजाओं की क्रियायें; तब धार्मिक और दार्शनिक मतमतान्तर बस इन्हीं विषयों का समावेश बहुधा संस्कृत नाटयकारों ने किया। भरतमुनि का वाक्य था—

'देवानामसुराणां च राजलोकस्य चैव हि।
ब्रह्मर्षीणां च विज्ञेयं नाटयं वृत्तान्तदर्शकम्॥'

शोकान्त नाटक का निषेध संस्कृत में अवश्य है परन्तु शोक पूर्णरूप से विद्यमान था। गोवर्धन ने 'आर्याशप्तसती' में जो भवभूति की प्रशंसा की है वह उल्लेखनीय है—'एतत्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा।' संस्कृत के शास्त्रकारों ने नाटक को दश प्रकार बताया है। 'दशरूप' में धनंजय का श्लोक है—

'नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः।
व्यायोग समवकारौ वीथ्यंकेहामृग इति॥'

परन्तु प्रायः सभी प्रकार में किसी-न-किसी रूप में दैवी सम्बन्ध है। हमारे पूर्वजों का मत था कि परलोक का ध्यान लुप्त नहीं होना चाहिये, आनन्द प्रमोद के अवसर पर भी ईश्वर की अनुकम्पा का ज्ञान रहना चाहिये। यहाँ तक कि पापाचारी भी ईश्वर से प्रार्थना करते हैं। 'मृच्छकटिक' में शर्विलक कार्त्तिकेय की आराधना करता है।

यह हुई पुरानी बात। वर्तमान युग में ईश्वर का ध्यान यदि कभी आता है तो केवल विपत्ति में। अन्यथा उन के अस्तित्व और नास्तित्व का कोई विशेष महत्व नही है। मनुष्य का जीवन स्वयं इतना विस्तृत हो गया है, समाज के प्रश्न इतने गूढ़ और जटिल हो गये है; विचारक्षेत्र इतना निस्सीम हो गया है; शिक्षा, धर्म, विज्ञान, कला, सम्बन्धी समस्यायें इतनी संख्या में और इस कठिनता से उपस्थित हो गई हैं—कि आज के कवि के लिये यह असम्भव है कि वह केवल ईश्वरचिन्ता में मग्न रहे।

स्थायी और अस्थायी कला

कलाकार अपने चित्त की प्रवृत्ति को अपनी कला में स्पष्ट रूप से प्रकट करता है। जो भाव उसके हृदय में है, जो धारणाएँ उसके मस्तिष्क में है उन का विकास उस की कला में होता है। जीवन की समस्याएँ, साधारण और असाधारण घटनाएँ, स्वाभाविक किन्तु मर्मस्पर्शी परिस्थितियाँ यदि कला में स्थान पायें तो आश्चर्य क्या? कलाकार संसार से सीमित है, मनुष्य का जीवन उस की कला का विषय है। प्रकृति की सुन्दरता अथवा प्रकृति की कठोरता से वह प्रभावित होता है। कला चिरस्मरणीय रहेगी अथवा क्षणिक, यह इस बात पर निर्भर है कि कला तात्कालिक है अथवा मानविक जीवन से उस का दृढ़ सम्बन्ध है। कुछ तो समस्याये ऐसी है कि जिन का सुलझाना मनुष्य की सामर्थ्य के बाहर है—जो सदा से रही हैं और सदा रहेगी—यथा विरह, अकाल मृत्यु, सज्जन का कष्ट सहना, दरिद्रता इत्यादि। "दुःख संवेदनायेवं रामे चैतन्यमाहितं" राम का बन-वास, सीताहरण, सत्यवान की मृत्यु, दमयन्ती का विलाप ये विषय ऐसे है कि उन पर काल का प्रभाव नही पड़ता। हम जानते है कि अब भी इस युग में इतने वर्षो के पश्चात भी, कठोर विमाता के कहने से पिता अन्याय करता है, दुष्ट साध्वी को कष्ट देते हैं, अकस्मात् असमय पुरुषरत्न अशेषगुणाकर का देहान्त हो जाता है, सुन्दरी युवावस्था में ही विधवा हो जाती है। गोद का बालक अनाथ हो जाता है। अयोग्य पुरुष प्रभुत्व प्राप्त कर लेता है। वर्षा समय सुहावना होता है, चन्द्रमा की ज्योति में शीतलता है और मेघ के गर्जन और विद्युल्लता में भय और आशंका और संघर्षकारिणी शक्ति भरी हुई है। इन विषयों से कला सर्वकालीन रहती है परन्तु यदि कलाकार इन सनातन

विषयों को छोड़ कर किसी युग विशेष अथवा समाज विशेष के प्रश्नों पर ही प्रकाश डालता है तो उस की कला कुछ दिनों तक तो जीवित रहेगी बहुत दिनों तक नहीं ।[१]

---

[१] श्री अवतार द्वारा लिखित "मूर्ति" (सन् १९३८ ई०) में डा० झा के लिखे हुए "प्राक्कथन" से ।

क्या उर्दू हिन्दुस्तान की भाषा है ?

हिन्दी साहित्य का जब इतिहास लिखा जायगा तो उस में पंडित रामनरेशजी त्रिपाठी की विविध सेवाओं का बड़े मान के साथ उल्लेख होगा। न केवल उन की कृतियों का उस में वर्णन होगा, परन्तु उन के सम्पादित और प्रकाशित "कविता कौमुदी" को एक विशेष स्थान दिया जायगा। इन पुस्तकों के द्वारा त्रिपाठी जी ने हिन्दी पढ़नेवालों को परिचय कराया है न केवल हिन्दी के काव्य से, परन्तु बँगला, उर्दू और संस्कृत के उत्कृष्ट काव्य के उदाहरणों से भी।

प्रस्तुत ग्रन्थ में उर्दू-भाषा और उसके काव्य का दिग्दर्शन कराया गया है। मैं आप के विचारों से बहुधा सहमत नहीं हूँ, फिर भी हिन्दी में उर्दू के विषय पर ऐसी सुन्दर पुस्तक मैंने नहीं देखी है। इस के पढ़ने से न केवल उर्दू-कविता का यथेष्ट ज्ञान हो जाता है, उस में रुचि भी उत्पन्न हो जाती है। हमारे देश में साहित्य और ललितकला में तो कभी संकीर्णता थी ही नहीं। हम और भाषाओं से अभिज्ञ होने को उत्सुक रहते हैं, और भाषाओं पर आधिपत्य करने में अपना गौरव समझते हैं।

ऐतिहासिक और शब्द-वैज्ञानिक दृष्टि से तथ्य चाहे कुछ भी हो, आज तो हिन्दी और उर्दू दो भिन्न भाषाएँ हैं। उर्दू के कवि इस देश के छन्दों में नहीं लिखते हैं। उर्दू काव्य का समस्त वातावरण विदेशीय है—यहाँ तक कि हिन्दू जब उर्दू में कविता लिखता है तो अपने मज़ार और क़ब्र का ज़िक्र करता है, धोखे से भी ईश्वर का नाम नहीं लेता। हमेशा ख़ुदा ही उस का ईश्वर है। सावित्री और सत्यवान, नल और दमयन्ती

को भूल कर उन के कविता में केवल शीरीं और फ़रहाद, यूसुफ़ और जुलेख़ा ही के नाम आया करते हैं। हिन्दू अपने को काफ़िर कहता है, बुतपरस्त कहता है, और अपने देवताओं को बुत। उस का अरमान रहता है कि वह मुसलमान हो जाय। भारतवर्ष का, यहाँ की वस्तुओं का, यहाँ के इतिहास का, यहाँ की कथाओं का, यहाँ के प्राकृतिक दृश्यों का, वह कही नाम नही लेता है।

शहर के रहने वाले, मुग़ल-साम्राज्य के कार्य-कर्ता, और अदालतों से सम्पर्क रखने वाले भले ही फ़ारसी और उर्दू का प्रयोग करते रहे हों परन्तु किसी भी हिन्दू को यह अधिकार नहीं प्राप्त हुआ कि वह उर्दू साहित्य का महारथी समझा जाय अथवा उसकी गणना उस्तादों में हो। ऐसी स्थिति में हम यह कैसे मान लें कि हिन्दी और उर्दू एक ही है ?

त्रिपाठी जी ने जो स्वयं इस पुस्तक में अनेक उदाहरण दिये हैं, उनमें हिन्दू-कवियों के कहे हुए कौन हैं ? मीर, सौदा, ग़ालिब, इन्शा, यही तो हैं। जिन पाँच युगों के विधाताओं के नाम इस पुस्तक में हैं—वली, अबरू, यकरंग, आरज़ू, फ़ुग़ाँ, सौदा, मोज, दर्द, मीर, जुरअत हसन, इन्शा, मसहफ़ी, नासिख़, आतश, मोमिन, ज़ौक, ग़ालिब, अमीर, अनीस, दबीर, दाग़, आसी, हाली, अकबर, इक़बाल, चकबस्त—उनमें अन्तिम नाम चकबस्त एक हिन्दू का है। तीन सौ वर्षों के साहित्य के इतिहास में एक हिन्दू कवि। २७ महाकवियों में एक ! यही है "मुश्तर्का ज़बान" की यथार्थता !

सच तो यह है कि उर्दू हिन्दुस्तान की भाषा होने ही नहीं पाई—न भाव में, न विषय में, न शब्द में। यह ईरान और अरब के साहित्य की एक शाखा-मात्र है। हम इसे पढ़ते हैं, हम इस का रसास्वादन करते हैं—अंग्रेजी को भी हम रुचि से पढ़ते हैं, हम में से कुछ फ्रेंच और जरमन भी पढ़ा करते हैं; परन्तु ये हमारी भाषाएँ तो नहीं हैं ?

अस्तु, हमें उर्दू से विरोध नही है---वह फले, फूले, उन्नति करे। परन्तु वह हिन्दी का केवल रूपान्तर है, यह मै नहीं मानता।[1]

---

[1] श्री रामनरेश त्रिपाठी द्वारा सम्पादित कविता-कौमुदी: चौथा भाग---उर्दू (प्रयाग, सं० १९९८ वि०) में डा० झा द्वारा लिखी गई प्रस्तावना।

अर्थशास्त्र का अध्ययन

अर्थ-शास्त्र का अध्ययन आधुनिक समाज में परम आवश्यक हो गया है। प्राचीन समय में, जब कि साधारण व्यक्ति की आर्थिक आवश्यकताएँ सीमित थीं, जब अध्यापक अपने आश्रम में, हस्तलिखित पुस्तकों अथवा कंठस्थ ग्रन्थों की सहायता से समस्त शास्त्रों में शिक्षा दे सकते थे, जब शिक्षित पुरुषों की संख्या कम थी और उन के शारीरिक सुख और स्वास्थ्य के लिये बहुत कम सामग्री की अपेक्षा थी, जब प्रजा से जो कुछ राजा को मिलता था वही उस के लिये पर्याप्त था, और जो राजा से कर्मचारियों को प्राप्त होता था, उसी से वे प्रसन्न रहते थे, जब "दिवसस्याष्ठये भोग शाकं पचतियो गृहे" यही आनन्द की पराकाष्ठा थी, तब अर्थशास्त्र के पंडितों से साधारण जनता का कोई विशेष सम्पर्क नही था। परन्तु अब तो समाज इतना विस्तृत हो गया है और नित्य के जीवन में इतनी गुत्थियाँ उपस्थित हो गई हैं कि इन महापंडितों की सहायता बिना आगे बढ़ना असम्भव है। प्रत्येक पद पर अर्थशास्त्र के तत्वों का अनुसन्धान करना पड़ता है। चाँदी का, अन्न का, वस्त्र का,—नितान्त आवश्यक वस्तुओं का—सम्बन्ध न केवल एक देश की, परन्तु समस्त संसार की आर्थिक स्थिति से है। अमेरिका, जापान, इंगलैंड की स्थिति का गहरा प्रभाव हमारे देश की स्थिति पर पड़ता है। कुछ वेत्ताओं का मत तो यह है कि न केवल एक देश का, समस्त विश्व का, इतिहास आर्थिक उलट-फेर से निश्चित हुआ करता है। धन और ऐश्वर्य के लोभ से प्रभावित हो कर, आर्थिक लाभ की आशा से, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को दलित करना चाहता है और वैयक्तिक जीवन में भी इन्हीं आकांक्षाओं से प्रेरित हो कर मनुष्य अपने आचरणों को स्थिर करता है। यह शोक का विषय है।

लक्ष्मी की आराधना अनिष्ट नहीं है, परन्तु साथ ही और देवियों के प्रति श्रद्धा रखना श्रेयस्कर है। इस युग में तो केवल लक्ष्मी ही एक आराध्य भगवती हो रही है।

अस्तु। जैसी युग की गति है, वैसी ही शिक्षा की प्रणाली भी होती जा रही है। अर्थशास्त्र का अध्ययन तो अब आत्मरक्षा और देशरक्षा के लिये अनिवार्य हो गया है। पश्चिम के देशों में इस शास्त्र की बड़ी उन्नति हुई है और हो रही है। हमारे विचार से इस का प्राधान्य भयावह है, परन्तु हमारी कौन सुनेगा? काल की प्रगति हम नहीं रोक सकते।[१]

---

[१] पंडित दयाशंकर दुबे द्वारा लिखित "अर्थशास्त्र की रूपरेखा" (इलाहाबाद, १९४० ई०) में डा० झा की लिखी हुई "भूमिका" से।